



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिन्नवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संग्रह के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)

जैन धर्म का स्वरूप

लेखक
मुनि सुशीलकुमार

मुद्रक
न्यू इंडिया प्रेस
नई दिल्ली

(पारम्परानायक)



(द्वितीय पट्टाधीश)



(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य चारिष-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिमागर जी महाराज
(अंकनीकर)

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोगणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिमागर जी महाराज

परम पूज्य तपरचर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिमागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिचार

मुद्रक : न्यू इंडिया प्रेस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली :

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : पांच रुपये

प्रथमावृत्ति
प्रति २०००

सन् १९५६ वि०सं० २०१५
वीर सं० २४८४, शाके १८८०

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के
आचार्य जैनधर्म दिवाकर,
जैनागस रत्नाकर

श्री आत्माराम जी महाराज

की

सम्मति

बहुत वर्षों से ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो एक अजैन व्यक्ति को जैन सिद्धांतों का परिचय कराए। संतोष का विषय है कि एस० एस० जैन कान्फ्रेस के कर्मठ और जैन धर्म प्रभावक कार्यकर्त्ताओं ने इस ओर ध्यान दिया है और जैनधर्म नाम की पुस्तक तैयार करवाई है। पुस्तक मैंने आद्योपान्त सुनी है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से सन्तोषप्रद है। वर्षों से समाज को जो कमी खटक रही थी, आशा है उसे पूरा करने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

अन्य सम्मतियाँ

भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति,

विश्वविख्यात दार्शनिक सर्वपल्ली डाक्टर राधाकृष्णन्

में दृढता पूर्वक कह सकता हूँ कि आज के युग में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अहिंसा का हमारे लिये महान् मूल्य है। फिर भी बाधा यह है कि हम अहिंसा के सम्बन्ध में बात करते हैं, किन्तु अहिंसा को जीवन में नहीं उतारते। यदि यह ग्रन्थ (जैन धर्म) पाठकों के अन्तःकरण में अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सका तो यह महान्तम कार्य होगा।

नितम्बर २६-१९५८
नई दिल्ली

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, एम० पी०

श्री मुनि मुशील कुमार जी ने यह ग्रन्थ लिख कर मेरी सम्मति में राष्ट्र भारती को एक रत्न की भेंट दी है। इससे जैन धर्म का विश्वसनीय स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी। कारण, यह एक अधिकारी विद्वान् के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। बीच-बीच में रमणीय उद्धरणों ने इसे और भी स्मरणीय बना दिया है।

नई दिल्ली
२६-१-५८

मैथिली शरण

प्रस्तावना

मैं 'जैनधर्म', ग्रन्थ का अभिनन्दन करते हुए परमानन्द का अनुभव कर रहा हूँ क्योंकि आदरणीय सुशील कुमार जी जैसे महामुनि इस ग्रन्थ के लेखक हैं और फिर विद्वान् एवं विद्यार्थी तथा साथ ही सामान्य मुमुक्षु सज्जनो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुन्दर हिन्दी रखी गई है।

मुनि सुशीलकुमार जी स्वयं सस्कृत के एक प्रकाण्ड पण्डित हैं, उनके जीवन में जैनधर्म का तत्वज्ञान व जैनधर्म का आचारधर्म दोनों ही साकार हो उठे हैं। जैनधर्म के प्रसार में उन्होंने अपने (जैनसाधु) जीवन का उत्सर्ग किया है। यह ग्रन्थ उन्हीं के द्वारा निर्माण हुआ है। अहिंसा जैनधर्म का सर्वोच्च सिद्धान्त है। अहिंसा के विश्वव्यापी प्रचार के लिए मुनि जी कृतसकल्प ही नहीं, अपितु उनके जीवन का परम उद्देश्य है। आज जगत् द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तृतीय शतयुद्ध की आशंका से आक्रान्त है। मानव जाति की रक्षा के लिए अहिंसा की भावना को जगत् और जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठापित करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखनी चाहिए। अहिंसा के सद्भाव से ही मानवता जीवित रह सकती है, शान्ति साँस ले सकती है और विश्व को विध्वंस और विनाश के महाप्रलय में विलीन कर देने वाले शस्त्रो व अस्त्रो से सुरक्षित रखा जा सकता है। युद्ध एवं शस्त्रों का उत्तर अहिंसा है।

भारत के महान् संतों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भ० महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष पद्धति) पर आधारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारो, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नहीं है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान, और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।

प्रत्येक धर्म ने मानव जाति के लिए नये-नये ज्ञानक्षेत्रों को खोला है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म अपने आप में कुछ असाधारण विशेषताओं से युक्त

होता है। जैनधर्म की विशेषता एवं महानता अनेकान्त एव अहिंसा के सर्वाङ्गीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। सभी धर्म आत्मा की मुक्ति पर विश्वास करते हैं। जन्म एवं पुनर्जन्म के भव-भ्रमण से वियुक्त हो जाना ही अपना परम ध्येय मानते हैं। जैसा कि महावीर स्वामी ने सूत्र कृतांग में बताया है कि :—

“निव्वाण सेट्ठा जह सव्व धम्मा”

अर्थात् सभी धर्मों का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म भी निर्वाण प्राप्ति को ही धर्म साधना का अन्तिम साध्य मानता है। और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष मार्ग का विधान किया है। जो तीन सिद्धान्तों का समन्वित स्वरूप है। जैसे कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, व सम्यक् चारित्र्य तीनों संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग है।

मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि श्रद्धेय मुनि सुशीलकुमार जी ने यह ग्रन्थ जैनशास्त्रों के आधार पर तैयार किया है। जिससे जैनधर्म के प्रामाणिक स्वरूप को संक्षिप्त एव सुवचिपूर्ण ढंग से पाठक प्राप्त कर सकें।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी सामग्री दिगम्बर (षट्खण्डागम् समयतार, श्रावकाचार आदि) एवं श्वेताम्बर (अंग, उपांग, मूल छेद, व जैनाचार्यों के ग्रन्थ, उमास्वाती का तत्त्वार्थसूत्र) आगमों से संचित की गई है। समूचा ग्रन्थ तीन खण्डों में विभाजित है। ज्ञान खण्ड, दर्शन खण्ड, एवं चारित्र्य खण्ड। इन्हे क्रमशः वर्गीकृत कर १३ अध्यायों में विभक्त कर दिया गया है। ग्रन्थ में जैन इतिहास व जैन संस्कृति का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी कराया गया है। विद्वान् लेखक ने साम्प्रदायिक व विवादास्पद मतभेदों को ग्रन्थ से दूर ही रखा है। लेखक ने 'अतीत की झलक व जैन सभ्यता' में इस तथ्य को अधिक सुन्दरता से स्पष्ट किया है कि जैनधर्म आर्यधर्म है। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर आर्य थे और जैनधर्म का पुराना नाम आर्य धर्म ही था। वैदिक धर्म, जैनधर्म व बुद्ध धर्म, आर्यधर्म के ही अंग हैं। दर्शन एव सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से ये सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन सब की संस्कृति एवं पृष्ठभूमि एक समान है। क्योंकि इन सब का उद्गम स्थान एक ही है।

मुझे इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ का धार्मिक क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं को महान् जैनधर्म के समझने व उनके प्रति धारणा बनाने में सहायता करेगा। मुझे विश्वास है कि परम अदरणीय मुनि सुशील कुमार जी महाराज का यह जैनधर्म के प्रसार के निमित्त किया गया गुह्यतर प्रयास अवश्य सुफल लायेगा।

नई दिल्ली,
अक्तूबर १, १९५८।

अनंतशयनम् आर्यंगर,
अध्यक्ष लोकसभा, नई दिल्ली

समर्पणपत्र

श्री वर्द्धमान स्था० जैन श्रमण संघ के

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

तथा

उपाचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज

को

सादर समर्पण

विनयावन्त

मुनि सुशील कुमार

आत्म-निवेदन

जैनागमों के आधार पर, जैन धर्म के सम्बन्ध में सही जानकारी जगत् के विद्वानों, धर्म जिज्ञासुओं व विद्यार्थियों के सामने रखने की मेरे मन में बहुत देर से आकांक्षा रही है।

अ० भा० इवे० स्यामकवासी जैन कान्फ्रेंस ने ठीक इसी आशय का एक प्रस्ताव पास कर इस प्रकार की जैन धर्म पर समन्वयात्मक पुस्तक लिखने का अनुरोध मेरे से व आत्मार्यो मोहन ऋषि जी म० एवं महासती उज्ज्वल कुमारी जी से किया था। यह मेरे मन की बात थी। मैंने बम्बई के निकट लोनावाला जैन बन्धुओं की प्रार्थना स्वीकार कर पार्वतीय सुरम्य वातावरण में बहुत शीघ्र ही सारा मसविदा तैयार कर लिया। चार वर्ष के बाद वह पुस्तक आज पाठकों के सामने है।

महासती जी द्वारा प्रेषित पुस्तक का सहकार एवं जैन समाज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का सम्पादन इस पुस्तक के संवर्धन में सहयोगी रहा है।

मेरे जैन धर्म पुस्तक लिखने का आशय इवेताम्बर एवं दिगम्बर आगमों के आधार पर जैन समाज की धार्मिक एकता को प्रोत्साहन देना है। और साथ ही साथ जैन धर्म के संबंध में फैलाई गयी भ्रान्तियों को दूर कर जैन धर्म की गहराइयों को ओर भी संसार का ध्यान आकर्षित करना है। पुस्तक में १३ अध्याय हैं, जैन इतिहास, जैन तत्वज्ञान, जैन समाज, जैन सभ्यता और जैनाचार पद्धति आदि सभी का परिचय इस पुस्तक में शास्त्रीय आधार पर देने का प्रयत्न किया गया है। भूलें होना स्वाभाविक है, जैन धर्म जैसे अगाध तत्वज्ञान एवं विशाल वाङ्मय से परिपूर्ण धर्म का परिचय देना मेरे जैसे अनभिज्ञ गीतार्यों के लिए अत्यन्त कठिन है, किन्तु श्रद्धावश यह मेरी प्रेमाञ्जलि है।

अन्त में मैं जैन समाज के कर्मठ सेवी भगवान् महावीर के अनन्य उपासक श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया, स्व० श्री विनय चन्द भाई जौहरी, आनन्दराज सुराणा एवं स्व० श्री जगन्नाथ जी जैनी को भूल नहीं सकता जिनकी उत्साह भरी प्रेरणाएँ पुस्तक लेखन में मुझे उल्लसित करती रही हैं।

प्रकाशकीय

अहिंसा आज विश्व-धर्म है। युद्ध एवं विनाश ने अहिंसा के महत्व को जगत् के सामने धौली-धूप की तरह स्पष्ट कर दिया है। व्यक्ति एवं समाज की सुरक्षा, शोषणहीन समाज की कल्पना, न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा के बिना कभी साकार नहीं हो सकते। गांधी जी के अवतरण के बाद संसार ने अहिंसा की खोज प्रारंभ की है। किन्तु जैन-धर्म अहिंसा का संदेश और साधना को लिए प्राचीनकाल से ही मानव जाति की सेवा कर रहा है। तथापि खेद है कि जैन धर्म के उदार सिद्धान्तों व मौलिक मान्यताओं तथा दिव्य धारणाओं और अलौकिक गूढ़ विद्याओं का लोकव्यापी प्रचार न किया जा सका। यही कारण है कि स्कूल-कालेज व विश्व-विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में जैन धर्म को लेकर अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएं प्रसारित की गई हैं।

भारतवर्ष तो अहिंसा प्रधान है ही; परन्तु आज समस्त विश्व अहिंसा और शान्ति की ओर झांक रहा है, जैनधर्म में अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप बताया गया है, अन्यत्र कहीं भी अहिंसा का ऐसा सूक्ष्म और विराट् स्वरूप नहीं मिलेगा।

अतः अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन काँग्रेस ने जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के परिचय के रूप में एक सर्वमान्य पुस्तक प्रकाशित करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किया था। उसी के अनुसार आज "जैन धर्म" पुस्तक को प्रकाशित कर पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

पुस्तक के लेखक हैं विश्व-धर्म सम्मेलन के प्रेरक प्रसिद्ध संत मुनि सुशील-कुमार जी। सहकार के रूप में आत्मारथी मोहन ऋषि म० तथा महासती उज्ज्वल-कुमारी जी, उन्हीं के द्वारा लिखित जैन धर्म पुस्तक को इसमें सहायता ली गई है। एतदर्थ हम अपनी तथा अ० भा० श्वे० स्था० जैन काँग्रेस की ओर से उनके आभारी हैं।

मुनि सुशील-कुमार जी ने अत्यन्त कार्यव्यस्त होने पर भी जो पुस्तक लेखन व संशोधन सम्बन्धी योग दिया है वह सराहनीय है।

इस पुस्तक में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता न आवे और जैन सिद्धान्तों का सर्वमान्य परिचय मिले, यही दृष्टि रखी गई है। जैनों को अपने धर्म का परिचय और ज्ञान हो और अजैनों को भी जैन धर्म की जानकारी मिले यही इस 'जैन धर्म' पुस्तक का ध्येय है।

'जैनधर्म' का अधिक से अधिक प्रचार हो इस दृष्टि से इस पुस्तक का अनुवाद गुजराती, मराठी, तामिल आदि भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी, जर्मनी, फ्रेन्च आदि विदेशी भाषाओं में भी प्रकाशित करने की हमारी भावना है।

पुस्तक-सम्पादन में प्रसिद्ध पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने महत्त्वपूर्ण योग दे कर हमारी चिरकालीन महान् अभिलाषा पूर्ण की है। एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हम श्री अनंतगयनम् आर्यंगर, अध्यक्ष लोक सभा के अत्यंत आभारी हैं कि जिन्होंने अत्यधिक कार्य ध्यस्तता में भी इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की। प्रस्तावना में जैन धर्म के प्रति उनकी उदारशयता हमारे लिये स्पृहणीय है।

इनके अतिरिक्त श्री शान्ति लाल बनमाली सेठ, श्री भूपराज जैन एम० ए०, श्री जिनेन्द्र मानव, श्री सोमनाथ जोशी शास्त्री प्रभाकर का प्रूफ संशोधन आदि का समय-समय पर दिया गया सहयोग विस्मृत नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अशुद्धियों की ओर से पर्याप्त सतर्क रहा गया, फिर भी कई त्रुटियों का रहना संभव है। यदि पाठक अशुद्धियां सूचित करने का कष्ट करेंगे तो आगामी संस्करण में परिष्कृत की जा सकेंगी।

विनीत

त्रिजयादशमी (आसोज शु० १०)
बोर सं० २४८४ वि० सं० २०१५
ता० २१-१०-५८

आनन्दराज सुराणा (भूतपूर्व एम एल.ए.)
जसवंतराज मेहता, एम० पी०,
सौभाग्यमल जैन, (भूतपूर्व वित्त मंत्री)
धीरजलाल केशवलाल तुरखिया,
लीमचन्द मगनलाल बोरा

मंत्री अ० भा० इवे० स्था० जैन कांफ्रेंस, नई दिल्ली

कहाँ क्या ?

१. मंगलाचरण

१. नमस्कार, २. मंगलपाठ ।

२. जैनधर्म का स्वरूप

३-८

३. अतीत की झलक

९-४८

१. जैन धर्म का ग्रनादित्व, २. भगवान् ऋषभदेव, ३. उप-निषदो मे जैन धर्म, ४ पुराणो मे जैन धर्म, ५. जैन धर्म के तीर्थकर, ६. भगवान् नेमिनाथ, ७. भगवान् पार्श्वनाथ, ८. भगवान् महावीर, ९. भगवान् महावीर का उदार सघ, १०. महावीर की देन, ११. तत्कालीन धर्म प्रवर्तक, १२. गो-शालक, १३. महावीर और बुद्ध, १४. महावीर और बुद्ध मे समानता और विभिन्नता, १५. दोनो सस्कृतियो की मूल प्रेरणा एक, १६. सात निन्हव और अन्य विपक्षी, १७ भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशसा, १८. वैदिक एव जैन सस्कृतियाँ, समन्व-यात्मक वृत्ति में परिपूर्ण, १९. अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप, २०. प्राचीन काल मे श्रमण-सस्था का कष्ट-सहन, २१. श्रमण और प्रचार, २२. महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था, २३. महावीर के साधु, सेवक-सेना, २४. लोक-भाषा का प्रश्रय, २५. महावीर की परम्परा की रक्षा, २६. विग्व के नाम महावीर का सन्देश, २७. शिष्य-परम्परा ।

४. मुक्ति-मार्ग

४९-६०

१. मुक्ति की परिभाषा, २. सम्यग्दर्शन, ३. सम्यग्दर्शन के आठ अंग--(नि शकित, निकाशित, निर्विचिकित्सा, अमूढ दृष्टित्व, उपवृहण, स्थिरी-करण, वात्सल्य, प्रभावना) ।

१. सम्यग् ज्ञान का स्वरूप—स्वरूप, ज्ञान की यथार्थता व अयथार्थता, ज्ञान के भेद, ज्ञान की प्रत्यक्ष परोक्षता, मतिज्ञान के भेद, ज्ञान का क्रम-विकास, श्रुत-ज्ञान, मति-श्रुत का अन्तर, श्रुत का प्रामाण्य, भेद, जैनाचार्यों की साहित्य सेवा, अवधि-ज्ञान, मन पर्याय-ज्ञान, केवल ज्ञान । २ विश्व का विश्लेषण (द्रव्य व्यवस्था)—द्रव्य व्यवस्था का उद्देश्य, द्रव्य क्या है, विश्व का मूल, पृथक्करण, जीवद्रव्य, अजीव । ३. तत्त्व-चर्चा—जीव, अजीव, पुण्य के भेद, पाप, आस्रव, सवर, बन्ध, मोक्ष । ४. प्रमाण-मीमांसा—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण, उपमान प्रमाण । ५ नयवाद—नय का स्वरूप, नय की सत्यता, नय के भेद । ६. अनेकान्त, ७ स्याद्वाद, ८ भाषा नीति-निक्षेप विधान ।

६. मनोविज्ञान

११३-१३३

१. इन्द्रियाँ (पाच), २ इन्द्रियो के विषय, ३ मन, ४. लेश्या (कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, षट् लेश्या, शुक्ल लेश्या), ५ कषाय—१ कषाय का अर्थ—कषाय के भेद १ क्रोव, २. अभिमान, ३. माया, ४. लोभ ।

७. जैन योग

१३५-१४४

१ योग । २ जैन धर्म मे अष्टांग योग—महाव्रत (यम), योगसंग्रह (नियम), कायक्लेश (आसन), भावप्राणायाम (प्राणायाम) प्रतिसलीनता (प्रत्याहार), धारणा (धारणा), ध्यान (ध्यान), समाधि (समाधि) । ३ ध्यान—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, (पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थ, रूपस्थ, रूपा-तीत), शुक्ल ध्यान ४. समाधि ।

८. वाच्यात्मिक उत्क्रान्ति

१४७-१५३

१. चौदह गुणस्थान—मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन गुण-स्थान, मिश्र गुणस्थान, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्व-विरति गुणस्थान, अप्रमत्तसयत गुणस्थान, अपूर्वकरण, अनि-चृत्तिकरण गुणस्थान, सूक्ष्म सम्पराय, उपशान्तमोह गुणस्थान क्षीणमोह, सयोगी केवली, अयोगी केवली गुणस्थान ।

९. कर्मवाद

१५५-१७३

१. जैन दर्शन में कर्म का स्थान—कर्म के भेद (द्रव्यकर्म, भाव-कर्म), कर्मबन्ध के दो मुख्य कारण, कर्मों का वर्गीकरण, कर्मों का स्वभाव (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्तरायकर्म), कर्मक्षय से लाभ, पुनर्जन्म की प्रक्रिया ।

१०. चारित्र्य और नीतिशास्त्र

१७५-२१७

१. द्विविध धर्म—अगार धर्म, अनगार धर्म, २. व्रतविचार—व्रत की परिभाषा, व्रत की आवश्यकता, ३. मूलभूतदोष—हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, ४ गृहस्थ धर्म की पूर्व भूमिका—संघ का विभाजन, श्रावक पद का अधिकार, ५. गृहस्थ धर्म, ६. अणुव्रत—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह-परिमाण अणुव्रत (गुणव्रत और शिक्षाव्रत), ७. श्रावक के तीन प्रकार—पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक, ८. जीवन नीति, ९. जीवन का मूलाधार अहिंसा, १०. मुनि धर्म, ११ पांच महाव्रत, १२. पाच समिति, १३. तीन गुप्ति, १४. अनाचीर्ण, १५. बारह भावनायें, १६. चार भावना, १७, दशविध धर्म, १८. निर्गन्थो के प्रकार, १९. आवश्यक क्रिया, २० साधना की कठोरता, २१ साधना का आधार, २२. मृत्युकला (सलेखनाव्रत) ।

११. जैनधर्म की परम्परा

२१९-२३०

१. जैन सम्प्रदाय, २ भारत के आध्यात्मिक निर्माण में जैनाचार्यों का योग, ३ राजाओं का योगदान, ४. मन्त्री और सेनापति, ५. जैन धर्म का प्रसार ।

१२. जैनधर्म की विशेषताएँ

२३१-२४२

१. जैन धर्म की वैज्ञानिकता, २ सृष्टि-रचना, ३ पृथ्वी का आधार, ४ स्थावर-जीव, ५ लोकोत्तर-ज्ञान, ६ अनेकान्त दृष्टि, ७. अहिंसा, ८. अवतारवाद ९ गुणपूजा, १०. अपरिग्रहवाद ।

१ जैन गिष्ठाचार—देव और गुरु के प्रति, वन्दनापाठ, श्रमणों का पारस्परिक गिष्ठाचार, श्रावकों का पारस्परिक गिष्ठाचार, पति-पत्नी सम्बन्धी, स्वामी सेवक सम्बन्धी
 २ जैन पर्व—सम्बत्सरी, दशलक्षण पर्व., अष्टान्हिका पर्व, आयविल-ओलि पर्व, श्रुत पंचमी, महावीर जयन्ती, दीपावली, तथा सलूनो रक्षावधन ।



मंगलाचरणा

नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

(भगवती सूत्र, पाठ १।

अर्थात् अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, और लोक के समस्त साधुजनों को नमस्कार हो ।

मंगलपाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंता सरणं पवज्जामि, सिद्धासरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पवज्जामि ।

अर्थात् चार मंगल हैं --

१. अर्हन्त मंगल है, २. सिद्ध मंगल है, ३. साधु मंगल है, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म मंगल है ।

लोक में चार उत्तम हैं --

१. अर्हन्त, लोक में उत्तम है, २. सिद्ध, लोक में उत्तम है, ३. साधु, लोक में उत्तम है, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म, लोक में उत्तम है ।

मैं चार शरण ग्रहण करता हूँ --

१. अर्हन्त की शरण ग्रहण करता हूँ, २. सिद्ध की शरण ग्रहण करता हूँ, ३. साधु की शरण ग्रहण करता हूँ, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ ।

आशीर्वाद

नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेणं तवेण य ।

खन्तीए मुत्तिए, बड्ढमाणो भवाहि य ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २२, गा० २६ ।

“सद् ज्ञान, अटूट निष्ठा, तथा चारित्र बल के सहारे तप, क्षमा, और निर्लोभता के सम्बल से तुम सदा वृद्धि पाते रहना ।”

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाजए पहे, समय गोयम मा पमायए ॥
बुद्धे परितिव्वुडे चरे, गामगए नगरेव संजए ।
संतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १०—गा० ३१-३६ ।

“हे गौतम ! मेरे निर्वाण के बाद लोग कहेंगे—निश्चय ही अब कोई जिन नहीं देखा जाता ।”

पर “हे गौतम ! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियों से प्रतिपादित मार्ग ही तुम्हारे लिए पथप्रदर्शक रहेगा ।”

ग्राम या नगर जहाँ भी जाओ, वहाँ संयत रहकर शान्ति मार्ग का प्रसार करना, अहिंसा मार्ग का प्रचार करना क्योंकि :—

“शान्ति” मार्ग पर चलने से ही धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।”

जैन धर्म का स्वरूप

जैन धर्म का स्वरूप

धर्म को लेकर प्राचीन काल से ही चिन्तको में मतभेद रहा है। उसी मत-विविधता का फल यह निकला कि आज जगत में धर्म की २२०० सम्प्रदाये अस्तित्व में आ चुकी हैं। और भी अन्य सम्प्रदायों का नए-नए सम्प्रदायो के रूप में परिवर्तन होता चला जा रहा है। मानवजाति के साथ यह खेद-जन्य घटना प्रारम्भ से ही घटित होती रही है, कि धर्म की शक्ति सदा से साम्प्रदायिको के हाथो का खिलौना रही है और विज्ञान की शक्ति राजनीतिज्ञो के इशारो पर नाचती रही है। धर्म और विज्ञान सत्य का अनुसंधान करते-करते मनुष्य को मिले है। धर्मों के अनुसंधान की जन्म-भूमि एशिया है। एशिया के भूखण्डो से ही निकली हुई धर्म की धाराओ ने समूचे जगत को आप्लावित किया है। भारतवर्ष धर्म के अनुसंधान में सबसे आगे है। जैन, वैदिक और बौद्ध-धर्म की धाराएं इसी देश से निकली हैं, यद्यपि जर्थोस्थ, यहूदी, ईसाई, इस्लाम-धर्म की परम्पराएँ ईरान, पैलेस्टाइन और अरब के जन-मानस से प्रस्फुटित हुई हैं और लाओत्से ताओ और कन्फ्यूगियस तथा सिन्तो धर्म की धाराओ ने चीन और जापान को धर्म का पाठ पढाया है।

जगत के इन तमाम धर्म-प्रवर्तको ने ऐसा कभी नहीं कहा कि हम एक नया धर्म प्रवर्तित कर रहे हैं, अपितु उन सब ने एक ही स्वर में उद्घोषित किया है

कि हम उमी एक अखण्ड सत्य को प्रकट कर रहे हैं जो त्रिकालाबाधित रूप से सदा विद्यमान् रहा है ।

भगवान् महावीर कहते हैं —“जो जिन अर्हन्त भगवन्त भूतकाल में हुए, वर्तमानकाल में हैं, भविष्य में होंगे उन सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा, एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी और वह यह कि “सब्वे जीवा न हन्तव्वा” किसी जीव की हिंसा मत करो, किसी को मत सताओ और न किसी के परार्थान बनो, एवं न किसी को परार्थीन बनाओ ।”

भगवान् बुद्ध ने कहा —“भिक्षुको । मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीनकाल के अरिहन्तो द्वारा अपनाया गया था, मैं उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्वों का रहस्य मिला ।”

ऋग्वेद का मन्त्र है —“एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति” “मत् एक है, विद्वान् अनेको प्रकार से उसका प्रतिपादन करते हैं ।”

जगत के समस्त धर्म, धर्म नहीं है अपितु धर्म की व्याख्याये हैं, पूर्ण सत्य नहीं है, सत्य की खोजे हैं । ये सब सत्य के अनुसंधान हैं । समन्वित रूप में अखण्ड सत्य का दिङ्निर्देश करते हैं ।

जैनधर्म उसे ही अनेकान्त धर्म कहता है, वही पूर्ण है और शाश्वत है क्योंकि अनेकान्त में ऐकान्तिक आग्रह नहीं । आग्रह का यह फल हुआ कि आज धर्म की सात सौ व्याख्याये हमारे भारतवर्ष में उपलब्ध हैं, किन्तु वे सब एक दूसरे से भिन्न हैं और उनके मानने वाले भी भिन्नता की ओर बहे जा रहे हैं । धर्म के उस परमैक्य और असहमत सगम से हम दूर होते जा रहे हैं । निश्चित है, एक-पक्षीयता अव्यवस्था को सदा से जन्म देती आई है, अन्यथा धर्मों का मतभेद और विवाद आग्रह पर खड़ा न होकर स्वरूप पर खड़ा होता, सत्य और तत्त्व पर आधारित होता । वस्तुतः स्वरूप से समस्त धर्म एक हैं ।

भगवान् महावीर ने अपने युग के ३६३ धर्मों का वर्णन किया है जिनमें कुछ क्रियावादी और कुछ विनयवादी, एवं कुछ अज्ञानवादी सम्प्रदाये थी । पर उनमें समन्वय नहीं था, यही एक सबसे बड़ी भूल रही है कि धर्म के एक पक्ष पर हम बल दे देते हैं और दूसरे पक्ष से हम पीछे रह जाते हैं । इसी से आग्रह-वृत्ति का उदय होता है । स्थानाग सूत्र के द्वितीय स्थान में भगवान् महावीर ने बताया है कि धर्म के दो पक्ष हैं—^१ एक श्रुत और दूसरा चारित्र ।

१. श्रुत के तीन प्रकार हैं :- सम्यक् श्रुत, नयश्रुत, मिथ्याश्रुत ।

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र्य का अर्थ सदाचार है। ज्ञान क द्वारा विकास और उद्देश्य को खोज करना, प्राप्ति के मार्ग ढूढना, और चारित्र्य का अर्थ है—कि उन सम्यग्मार्गों पर चलकर लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त करना। खोज के लिए प्रकाश चाहिए वह ज्ञान देता है, और सदाचार हमें निर्वाण देता है। इमी को श्रुत-धर्म के सहायक रूप में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म आदि के दस भेदों^१ को भी धर्म का रूप दिया गया है। धर्म का वास्तविक उद्देश्य बहिर्मुखता से हमें अन्तर्मुखी बनाना है। हमारा सर्वस्व शरीर नहीं, आत्मा है। शरीर का सुख काम्य सुख है, किन्तु हमारा अपना सुख काम्य सुख नहीं हो सकता क्योंकि वह नागशील है। इसीलिए जगत के वे तमाम धर्म जो हमें बलि के द्वारा अथवा यज्ञ के द्वारा स्वर्गीय सुखों का आश्वासन वधाते हैं, वे आध्यात्मिक आनन्द के परमोद्देश्य को प्राप्त करने वाले साधकों के लिए ग्राह्य नहीं हैं। उनको तो आत्मा का आनन्द चाहिए। आनन्द और सुख में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि सुख ऐन्द्रिय होता है और आनन्द आध्यात्मिक।

आध्यात्मिक आनन्द नित्य, शाश्वत और 'ध्रुव' है। आनन्द की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा स्वभाव-विपरीतता और विभावों की प्रधानता है। भगवान् महावीर ने फर्माया है—कि “अज्ञान से मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से अव्रत और अव्रत से प्रमाद एवं प्रमाद से कषाय य सब विभाव ह, इन विभावों ने ही आत्मा के असीम आनन्द और अनन्त ज्ञान को दबोच लिया है।”

जब तक आत्मा अपने स्वरूप को पा नहीं लेती तब तक उसे जगत की विफलता को अनुभव करना ही पड़ेगा, भव-भ्रमण की व्याधि में ग्रस्त होना ही पड़ेगा।”

भ्रमण महावीर कहते हैं—“बत्थुसहावो-धम्मो” वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, अर्थात् आत्मा के नैसर्गिक स्वरूप को पा लेना ही धर्म है, धर्म आत्मा का सगीत है। चैतन्य के ऊर्ध्वगमन की वृत्ति ही धर्म की जननी है। धर्म का वर्णन वाणी से नहीं अपितु अनुभव से ही हो सकता है, आत्मा की विवेक और चैतन्य शक्ति ने ही दूसरे प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न अमरता की ओर प्रेरित किया है। कर्तव्य और आदर्श की व्याख्याएँ दी हैं, दुख निवृत्ति और निर्वाण प्राप्ति ही हमारे धर्म की लक्ष्यसिद्धि है। आत्मा को कर्मणुओं की धूल ने ढक दिया है। इन कर्मों के बन्धनों को पहिचानो और तोड़ दो। बन्धनों को पहिचानने के लिए ज्ञान की, और बन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्र्य की आवश्यकता

है। चारित्र-रूप-धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् ने कहा कि—“अहिंसा सयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। वह उत्कृष्ट और मंगल है।” अहिंसा के विषय में हमें सावधानी से काम लेना पड़ेगा—क्योंकि अहिंसा के दो प्रकार हैं—एक निषेधक और दूसरा विधायक।

अहिंसा का निषेधक रूप आत्मगत समस्त प्रकार के दोषों का दमन करता है और विधायक रूप मिथ्यात्व से समकित, सुव्रत, अप्रमाद, अकपाय और शुभ योग की ओर प्रेरित करता है। मानव को अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से गुद्ध (प्रशस्त शुभ) की ओर ले चलना ही जैनधर्म का उद्देश्य है और अहिंसा उसकी पूर्ति का साधन है। सब जीव जीना चाहते हैं, अहिंसा उनको अमरता देती है। प्रश्न व्याकरण-मूत्र में भगवान् ने कहा है :—“अहिंसा समस्त जगत के लिए पथप्रदर्शक दीपक है, डूबते प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है, यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है, पक्षियों के लिए आकाशगमन के समान हितकारिणी है और प्यास को पानी के समान है। भूख को भोजन के समान है। समुद्र में जहाज के समान है, रोगियों के लिए औषधि समान है, यही नहीं; भगवती अहिंसा, इनसे भी अधिक कल्याणकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, नभचर, त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियों के लिए मंगलमय है। (प्रश्न व्याकरण प्रथम सवर द्वार) नि.सन्देह अहिंसा ही माता के समान समस्त प्राणियों का संरक्षण करने वाली, पाप और सताप का विनाश करने वाली और जीवनदायिनी है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है और हिंसा गरल है, गरल का भण्डार है।”

व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के जीवन में अहिंसा की मात्रा जितनी-जितनी बढ़ती जायेगी, सुख-शान्ति एवं स्थायी कल्याण की मात्रा भी उतनी-उतनी ही बढ़ती जायेगी। इसके विपरीत, ज्यों-ज्यों हिंसा विकराल रूप धारण करेगी, जगत का और व्यक्ति का जीवन अशान्त, सतप्त, और व्याकुल दुखी होता जाएगा।

प्रश्न होता है—जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा किस प्रकार की जा सकती है? इसका उत्तर है—सयम के द्वारा। इसीलिए अहिंसा के पश्चात् धर्म का दूसरा रूप सयम बतलाया गया है।

संयम का अर्थ है इन्द्रियों का और मन का दमन करना अर्थात् उन्हें आत्म-वर्गीभूत करना और हिमाप्रवृत्ति से वंचना। सयम अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए

एक शान्ता है। अहिंसा साध्य और संयम साधन है। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। जिसने अपनी इन्द्रियो को उच्छृंखल छोड़ दिया है मन को बेलगाम कर रखा है और जो प्राणियों के प्रति सहानुभूतिशील नहीं है, वह असंयमी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता।

संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रियो और मन को अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्ति करने से रोक कर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी-संयम है।

शास्त्रो में सत्तरह प्रकार का जो संयम प्रतिपादित किया गया है, उसका सार इसी मे आ जाता है।

संयम के पश्चात् धर्म का तृतीय रूप प्रकट किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम की साधना के लिए तपस्या अनिवार्य है। तपस्या का अर्थ इच्छा-निरोध है। मनुष्य की इच्छायें अपार, असीम, और अनन्त हैं। उनकी लालसा पूरी करने के लिए आप दौड़ेगे तो दौड़ते ही चलेगे। किन्तु वह तृष्णा पूरी नहीं हो सकती और आपकी दौड़भूप समाप्त हो नहीं सकती। इच्छापूर्ति के लिए आपको असंयम के पाप-पथ पर चलना अनिवार्य होगा और वहाँ हिंसा-दानवी आपको अपना लक्ष्य बना लेगी।

काँटो से बचने के लिए आप सम्पूर्ण भूमडल को चमड़े से मढ़ नहीं सकते। बुद्धिमान् मनुष्य अपने पैरो में ही जूता पहन लेता है। इसी प्रकार इच्छाओ की पूर्ति करना असंभव है, अतएव इच्छाओ पर नियंत्रण कर लेना ही आपके लिए एकमात्र सुखप्रद मार्ग है। यही तप का मार्ग है। तपोनुष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और संयमशीलता से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है।

जिस व्यक्ति के अन्तरतर मे अहिंसा, संयम और तप की त्रिबेणी निरन्तर बहती रहती है, उसकी आत्मा इतनी निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है कि देवता भी उसके चरणों में प्रणाम करके अपने को धन्य मानते हैं।

एक जैनार्च्य ने जैनधर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए बतलाया है.—
“जहाँ अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा की गई है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओ का विचार करके सम्पूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गई है, खण्डित सत्यांशों को अखंड स्वरूप प्रदान किया गया है, जहाँ किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नहीं है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है और जहाँ किसी भी प्राणी को पीडा पहुंचाना पाप माना जाता है, वही जैनधर्म है।

आचार सम्बन्धी अहिंसा, विचार सम्बन्धी अहिंसा अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित स्वरूप ही जैनधर्म है।”

जैन-धर्म विजेताओं का धर्म है क्योंकि वह रागद्वेष के जीतने वाले जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कर्म-मलरूप अरियो का नाश करने के कारण अरिहन्त देवो द्वारा प्रतिपादित होने से इसे निर्ग्रन्थ धर्म भी कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में परमहंस धर्म और कैवल्य-श्रुति में इसे यति-धर्म कहा गया है। इस अवसर्पणिक काल में भगवान् ऋषभदेव इसके आदि प्रवर्तक थे और भगवान् महावीर २४ वे तीर्थंकर। युग-युग से जब जीवन अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है तो अरिहन्त वा आर्हद्वाणी हमें अहिंसा, सयम, तप और समन्वय का उद्बोधन देते आए हैं। वह दिवस घन्थ होगा जिस दिन हमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य के द्वारा हम अपने ही अन्तर में मूर्च्छित परमात्मा को जागृत कर सकेंगे और असीम आनन्द एवं अनन्त ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।

सच्चा यज्ञ

तवो जोर्ड जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरोरं कारिसंगं ।

कम्मेहा संजम जोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

उत्तराध्ययन० १२, गा० ४४ ॥

हे गौतम ! तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, काया के योग कुड़छी है, शरीर कारिपाग है, कर्म ईधन है, सयम भोग शान्ति पाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूँ। ऋषियो ने ऐसे ही होम को प्रशस्ति कहा है।

Live and Let Live

जीवो और जीने दो

से वेमि, जेय अईया, जेय पडुप्पन्ना, जेय आगमिस्सा—
अरिहंता भगवन्तो ते सव्वे, एव माइक्खन्ति एव भासंति एव
पण्णवित्ति, एवं पख्वेत्ति—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे
जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परि-
घितव्वा, ण परितावेयव्वा ण किलामेयव्वा, ण उद्देव्यव्वा, एस
धम्मं सुद्धे णियए—सासए—समिच्च लोयं खेयन्ते हि पवेइए ।

—आचारांग, अ० १, उ० १ ।

श्रमण महावीर कहते हैं :—“मैं कहता हूँ कि जो अतीत,
वर्तमान और भविष्यकाल में अरिहत भगवान् थे, हैं, और
होंगे, वे सब इसी प्रकार का उपदेश, भाषण, प्रवचन और
प्रतिपादन करते थे, कर रहे हैं और करेंगे कि :—

सभी जीवों को अपने समान समझ कर किसी भी प्राणी
भूत-जीव तथा सत्व को मत मारो, गुलाम मत बनाओ, पीड़ा
मत पहुँचाओ और किसी को भी सताप मत दो और न किसी
को उद्विग्न करो ।”

यही धर्म ध्रुव है, शाश्वत है और नित्य है ।

अतीत की झलक

अतीत की झलक

जैन धर्म न तो किसी धर्मप्रवर्तक पुरुष के नाम से प्रचलित हुआ है और न किसी पुस्तक के नाम से। वह तो जिनो द्वारा उपदिष्ट धर्म है। इस भूतल पर सदा काल से जिन होते आ रहे हैं, अतएव जैनधर्म कब प्रचलित हुआ, यह बतलाना सम्भव नहीं। पश्चात्य विद्वान् पादरी राइस डेविड के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि जब से यह पृथ्वी है, तभी से जैनधर्म विद्यमान है।

फिर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थकरो—जिनो द्वारा उसका उपदेश दिया जाता है और वह नूतन रूप में प्रकाश में आता है, इस दृष्टि से उसे आदि भी कहा जा सकता है।

अनन्त जीव धर्म का अनुसरण करके अपना कल्याण कर चुके हैं, अनन्त जीव अपना उद्धार करेगे, और अनेक जीव कर रहे हैं। धर्म का मगल द्वार सदैव खुला रहता है। फिर भी क्रूर काल के प्रभाव से धर्म का पथ कभी-कभी कहीं-कहीं अवरुद्ध हो जाता है। उसे जिन भगवान् पुनः परिष्कृत करते हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

जैनधर्म में काल परम्परा वैदिकधर्म के चार युगों (सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग) की भाँति मूलतः दो भागों में विभाजित की गई है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणीकाल, विकासकाल है। इस काल में जीवों के बल, वीर्य,

पुरुषार्थ, शरीर उन्न आदि की तथा भौतिक पदार्थों से रस आदि की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। अवसर्पिणीकाल ह्यासकाल है। इन अवननिगोलवाल में उक्त वातो में निरन्तर हानि होती चली जाती है। तात्पर्य यह है कि दुःख से सुख की ओर ले जाने वाला काल उत्सर्पिणीकाल और सुख से दुःख (वृद्धि में ह्यास) की ओर ले जाने वाला काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है।

यह दोनो काल मिलकर कालचक्र कहलाते हैं। यह सृष्टि रूपा शकट के दो चक्र हैं। जैसे गाडी के चक्र में आरे बने रहते हैं और वे उस चक्र को विभक्त करते हैं, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में छ-छ आरे होते हैं। इन आरो का कालमान सख्यातीत वर्षों का होता है।

छ आरो के गुणनिष्पन्न नाम रखे गए हैं.—

- (१) सुखमा-सुखमा-अत्यन्त सुखरूप ।
- (२) सुखमा-सुखरूप ।
- (३) सुखमा दुखमा-सुख-दुख रूप ।
- (४) दुखमा सुखमा-दुख-सुख रूप ।
- (५) दुखमा-दु ख रूप और
- (६) दुखमा-दुखमा, अत्यन्त दुख रूप ।

यह अवसर्पिणीकाल के आरो का क्रम है। उत्सर्पिणीकाल के छ आरो का क्रम इससे विपरीत है। वह दुखमा सुखमा से प्रारम्भ होकर सुखमा सुखमा पर समाप्त होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में चौबीस जिन तीर्थ-कर होते हैं। वह प्रचलित या लुप्तधर्म को पुन प्रचलित करते हैं।

इस समय अवसर्पिणीकाल चल रहा है और हम लोग उसके पाँचवे आरे में गुजर रहे हैं।

सुखदु ख नाम के आरे में धर्मतीर्थकरो का जन्म होता है। इस अवसर्पिणी-काल के तीसरे आरे में आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव का अवतरण हुआ। इसी आरे के तीस वर्ष और साठे आठ मास शेष रहते उनका निर्वाण हो गया।

श्रीमद्भागवत और मनुस्मृति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का जन्म मनु की पाँचवी पीढी में हुआ था। गणना करने पर वह काल प्रथम सतयुग का अन्तिम चरण निकलता है। उस सतयुग के बाद आज तक २८ सतयुग बीत चुके हैं। ब्रह्मा जी की आयु का भी बहुत-सा भाग समाप्त हो चुका है।

इस उल्लेख में भगवान् ऋषभदेव के जन्म की प्राचीनता का समर्थन होता है।

भ० ऋषभदेव के पञ्चात् चौथे प्रारंभ में शेष २३ तीर्थकर हुए हैं, जिनमें भगवान् महावीर अन्तिम थे।

प्रथम और अन्तिम तीर्थकर का कालिक अन्तर जैनशास्त्रों में कोटि-कोटि सागर दत्तनाया गया है। नागर (प्रकाशवर्ष की तरह) सख्यातीत वर्षों के समूह की सजा है।

इस अवमर्षिणी युग में जैनधर्म के आदि प्रणेता समाजस्रष्टा और नीति-निर्माता भगवान् ऋषभदेव हुए हैं।

भगवान् ऋषभदेव

मृतकाल की बात है। मृतकाल भी इतना पुराना कि वहाँ इतिहास की पहुँच नहीं। उस समय इस भरतक्षेत्र में न धर्म था, न परिवार-प्रथा थी, न समाजव्यवस्था थी, न राज्यशासन था, न नीति और न कला का उद्भव हुआ था। उस समय की प्रजा वृक्षों के फलों पर अवलम्बित थी, जिन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा प्रदान की गई है। जैनशास्त्रों में वह युगलकाल के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि मनुष्य का मनुष्य के साथ अगर कोई सम्पर्क था तो वह नर और नारी का ही था।

भगवान् ऋषभदेव के पिता महाराज नाभि थे जो इस काल के अन्तिम कुलकर थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। युगलिक सभ्यता में ही उनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ।

कालचक्र तेजी के साथ घूम रहा था। प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो रहा था। मानवप्रकृति में भोगलिप्ता का विकास हो रहा था। और भौतिक प्रकृति की फलदायिनी शक्ति का ह्रास हो रहा था। इस दोहरे परिवर्तन के कारण पहली बार अगान्ति का उद्भव हुआ। जो वृक्ष उस समय की प्रजा के जीवन-निर्वाह के साधन थे, वे पर्याप्त फल नहीं देते थे और कृषिकर्म आदि से लोग अनभिज्ञ थे। इस परिस्थिति में एक भारी प्राण सकट आ उपस्थित हुआ। उस संकट का सामना करने के लिए युगानुकूल जो नूतन व्यवस्था की गई, उसने भोगभूमि को कर्मभूमि में परिणत कर दिया।

गुण-कर्म के आवार पर भ० ऋषभदेव ने मानवव्यवस्था की ओर कर्म-

पुरुषार्थ पर खडा करके मनुष्य को स्वावलम्बी बना दिया। प्रजा के हित के लिए लेख, गणित, नृत्य, गीत, सौ प्रकार की गिल्प-कला आदि, वहतर कलाएँ पुरुषों की और चाँसठ कलाएँ स्त्रियों की निर्माण की। (जम्बूद्वीपप्रजप्ति, ऋषभ चरितः) सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि की शिक्षा दी और इस कारण वह लिपि आज तक ब्राह्मी लिपि के नाम से विख्यात है।

कृषि, गो-पालन, भाण्डनिर्माण आदि समस्त कर्म, उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था सब भगवान् ऋषभदेव की ही देन है।

ऋषभदेव जी की सुनन्दा और सुमगला नामक दो पत्नियाँ थीं। दोनों से दो कन्याओं और सौ पुत्रों का जन्म हुआ। जिनमें दो भरत और वाहुवली विशेष विख्यात हुए।

लोकजीवन की सुव्यवस्था करने के पश्चात् प्रजा का भार अपने पुत्रों को सौंप कर भगवान् ऋषभदेव परिग्रह से विमुक्त हो दीक्षित हो गए।

एक हजार वर्ष तक निरन्तर कठोर तपश्चरण करने के पश्चात् वे जिन वीतराग एवं पूर्ण ज्ञानी हो गए। तत्पश्चात् उन्होंने समाज-व्यवस्था की तरह धर्म-व्यवस्था करके मानव-जीवन को एक प्रशस्त और उच्चतर ध्येय प्रदान किया। गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का तथा साधुओं के लिए महाव्रतों का उपदेश दिया। भगवान् के धर्मोपदेश की वह विमल स्रोतस्विनी अति दीर्घ मार्ग को पार करती हुई आज तक प्रवाहित हो रही है।

यह उल्लेखनीय है कि भगवान् ऋषभदेव को वैदिकधर्म ग्रंथों में भी परमोच्च पद प्राप्त हुआ है और ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर उनका नाम्मोल्लेख हुआ है और उनकी स्तुति की गई है। एक जगह लिखा है—“हे ऋषभनाथ सम्राट् ! ससार में जगतरक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम्हीं इस अखण्ड पृथ्वीमण्डल के सार हो, त्वचा रूप हो, पृथ्वीतल के भूषण हो, और तुमने ही अपने दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नाषा है।” (ऋग्वेद सू० अ० ३)

कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र में भगवान् को व्रत-धर्म का प्रचारक और अनन्त ज्ञानी स्वीकार किया गया है। अन्यान्य स्थलों पर भी उनकी अत्यन्त भक्तिमय स्तुति की गई है। उनके व्रतधर्म का भी वहाँ उल्लेख मिलता है।

श्रीमद्भागवत में कहा है—“हे परीक्षित ! सम्पूर्ण लोक, देव, ब्राह्मण और गौ के परम गुरु भगवान् ऋषभदेव का यह विशुद्ध चारित्र मैंने तुम्हें सुनाया है। यह चारित्र मनुष्यों के समस्त पापों को हरण करने वाला है।”

भागवतकार ने भगवान् ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन किया है और उनके उपदेशों का गणह भी किया है। उन्होंने ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म को परम-हृन्-धर्म और भगवान् को अर्हन्त बतलाया है।

वे कहते हैं—“नाभि राजा ने संसार में धर्म-वृद्धि के लिए मोक्ष-प्राप्ति और अपवर्ग को पयप्रदर्शन के लिए अपत्यकामना की, और अरिहन्त भगवान् को अवतरित करने के लिए यज्ञ किया।”

ब्राह्मणों और ऋषियों ने राजा की कामना जानकर उत्तर दिया—“महाराज ! यदि आप अर्हन् चाहते हो तो अवश्य आपकी कामना पूर्ण होगी।” फिर ब्राह्मणों ने परमात्मा से प्रार्थना की, परमात्मा ने ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार की और अर्हन् भगवान् को भेजा।

“अर्हन् नाम-रूप प्रकृति के गुणों से निर्लेप, अनासक्त तथा मोह से असंस्पृष्ट होते हैं और मोक्ष तथा अपवर्ग का मार्ग बतलाते हैं।”

“ऋषभदेव आत्मस्वभावी थे। अनर्थपरम्परा (हिंसा आदि पाप) के पूर्ण त्यागी थे। वे केवल अपने ही आनन्द में लीन रहते तथा अपने ही स्वरूप में विचरण करते।”

“ऋषभदेव साक्षात् ईश्वर थे। वे सर्व समता रखते, सर्व प्राणियों से मित्र-भाव रखते और सर्व प्रकार दया करते थे।”

श्रीमद्भागवत ने उच्च स्वर से उद्घोषित किया है कि उस ऋषभदेव भगवान् का ज्येष्ठ और श्रेष्ठी गुणी भरत नामक पुत्र था। वह भारत का आदि सम्राट् था और उसी के नाम से इस राष्ट्र का नाम “भारतवर्ष” पड़ा है।

भरत को सम्पूर्ण राज्य मिल गया, किन्तु ६८ पुत्रों को कुछ भी नहीं मिला। वे उद्विग्न होकर परमयोगी ऋषभदेव के पास गए और उनके सामन राज्यचिन्ता का शोक प्रकट किया। भगवान् ऋषभदेव ने उन ६८ पुत्रों की राज्य के प्रति आसक्ति देखकर बहुत ही गम्भीर, मर्मस्पर्शी और कल्याणकारी उपदेश दिया।

उसका मूल के अनुसार सार यह है—

१. हे पुत्रों ! मानवीय संतानों ! संसार में शरीर ही कष्टों का घर है। यह भोगने योग्य नहीं है। इसे माध्यम बनाकर दिव्य तप करो जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। तप से अन्त करण-शुद्धि और अन्त करण-शुद्धि से ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

२. हे पुत्रो ! सत्पुरुषों के मदाचार से प्रीति करना ही मोक्ष का ध्रुव द्वार है। जो लोक में और संसार व्यवहार में प्रयोजन मात्र के लिए आत्मव्यवृद्धि रखता है, वही समदर्शी प्रज्ञान्त साधु है।

३. जो इन्द्रियो और प्राणों के मुख के लिए नया वामना-तृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम अच्छा नहीं मानते। क्योंकि शरीर की ममता भी आत्मा के लिए क्लेशदायक है।

४. साधु जब तक आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह कुछ नहीं जानता। वह कोरा अज्ञानी है। जब तक वह कर्मकाण्ड (यज्ञ आदि) में फँसा रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का संयोग छूटना नहीं है। और मन के द्वारा कर्मों का बन्ध भी रहता नहीं है।

५. जो सद्ज्ञान प्राप्त करके भी सदाचार का पालन नहीं करते वे विद्वान् प्रमादी बन जाते हैं। मनुष्य अज्ञान भाव से ही मैथुन-भाव में प्रवेश करता है और अनेक संतापो को प्राप्त करता है।

६. नर का नारी के प्रति कामभाव ही हृदय की ग्रंथि है। इसी के कारण जीव का घर, खेत, पुत्र-कुटुम्ब और धन से आकर्षण होता है। मोहासक्ति बढ़ती है।

७. जब हृदय-ग्रंथि को बनाए रखने वाले मन का बधन गिरियल हो जाता है, तब जीव इन संसार से छूटने लगता है और मुक्ति प्राप्त कर परम लोक में पहुँच जाता है।

८. सार-असार का भेद जानने वाला जीव वीतराग पुरुष की भक्ति करता है। भक्ति में अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। तब जीव तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्त्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति करता है। तभी आत्मा कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

९. विषयों की अभिलाषा ही अन्वकूप के समान नरक में जीव को पटकन वाली है।

१०. हे पुत्रो ! जो हेयोपादेय की विवेक दृष्टि से गून्ध है, और कामनाओं में परिपूर्ण है, वह संसारी कल्याण के मूलपथ को नहीं पहचान सकता।

११. जो पुरुष बुद्धि को मोह में उलझाकर और कुबुद्धि बनकर उन्मार्ग पर चलता है, दयालु विद्वान् उसे कभी भी उन्मार्ग पर नहीं चलने देते।

१२. हे पुत्रो ! जो स्थावर और जगम जीवो की आत्मा को भी मेरे समान ही समझता है और कर्माविरण के भेद को पहचानता है, वही धर्म प्राप्त करता है। धर्म का मूल तत्व समदर्शन है।

१३ जो साधक यमो (महाव्रतो) को ग्रहण करता है और अध्यात्म-योग विविक्त सेवा द्वारा आत्मस्वरूप स्थिति का ज्ञान करता है, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य द्वारा उसका साक्षात्कार करता है, वह अप्रमादी साधक मुक्ति के निकट पहुँचता है।

१४ जो सर्वत्र विचक्षणतापूर्वक ज्ञान, विज्ञान, योग, धैर्य, उद्यम तथा सत्व से मुक्त होकर विचरण करता है, वही कुशल है और वही मेरा अनुयायी है।

१५. कर्मण्य को विध्वंस करने के लिए हृदय-ग्रथि को नष्ट करो, यही बंध का कारण है। अविद्या से ही बंध होता है। प्रमाद कर्मबन्ध में सहायक होता है।

१६. इस आत्मा की अपने कल्याण की दृष्टि नष्ट हो गई है और वह स्वार्थ के पीछे पागल हो गया है। पुत्रो ! निष्काम और निस्वार्थ होकर सुखलेश की उपेक्षा करके कर्ममूढता और अनन्त दुःखग्रस्तता को नष्ट करो।

१७ नेत्रो के अभाव में जैसे अन्धा कुपथ पर जा चढ़ता है, इसी प्रकार जीव कर्मान्ध होकर कुमार्गों का अनुसरण कर रहा है। कुबुद्धि होने के कारण ही वह सच्चे धर्म पर श्रद्धा नहीं करता।

१८. हे पुत्रो ! मेरा शरीर मेरा नहीं है, यह तो आत्मा के विभाव का दुष्फल है। मेरा अपना तो आत्मस्वभाव ही है। वही मेरा सच्चा धर्म है। मैंने उस विभाव रूप अधर्म को दूर कर दिया। अतः मुझे लोग श्रेष्ठ आर्य कहते हैं।

१९ अग्निहोत्र में वह सुख नहीं है जो आत्मयज्ञ में है।

२०. मैं उसे ही यज्ञ और धर्म मानता हूँ जो सतो गुण से युक्त, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, तितिक्षा और अनुभव से सम्पन्न होता है। इसी मार्ग से अनन्त आत्मार्थ परमात्मपद प्राप्त कर गई है। यही श्रेष्ठ मार्ग है।

२१. स्थावर और जगम जीवो पर सदा अभय दृष्टि रखो, यही सच्चा श्रेष्ठ मार्ग है और मोहनाश का कारण है। मुक्तिप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, यही सर्वोच्च ध्येय है। इसी सिद्धि से अनन्त सुख प्राप्त होता है।

भगवान् का यह उपदेश सुनकर उनके पुत्रो ने ससार त्याग दिया। कर्म-काण्ड त्याग कर उन्होंने परमहंस धर्म (आत्मधर्म) की पद्धति का अनुसरण किया।

भागवत् में भगवान् ऋषभदेव की तपस्या का बहुत ही रोमांचकारी वर्णन किया गया है। उपसर्गों, परीपहो और संकटों को पार करते हुए तथा वनवास के नमस्त दुःखों को सहन करते हुए भगवान् अबधूत वेग में विचरने लगे। उनका मन अविच्छिन्न और प्रगल्भ था। वे मानापमान की चिन्ता न करके घूमने लगे थे।

उनके शारीरिक अतिगम्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनकी विष्ठा में भी सुगंध आती थी, मारा वातावरण सुगंधमय बन जाता था।

एक दिन उनके कर्मागम्य का अन्त आ गया, समस्त अर्थ परिपूर्ण होने से मिट्ट बन गए, उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

उनकी आत्मा में परमानन्द था, समस्त अर्थों का ज्ञान था, वे निष्कम्प आलोकस्नम्भ थे।

भगवान् ऋषभदेव के भागवतोक्त जीवन की जैनागमों और जैन-पुराणों से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। वास्तव में भागवतकार ने श्री ऋषभदेव के जीवन और धर्म को विगुह्य रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कहीं भी उन्हें यज्ञ-समर्थक या वेदानुयायी प्रदर्शित नहीं किया गया है।

वैदिक-धर्म के चौबीस अवतारों में भ० ऋषभदेव आठवे अवतार स्वीकार किये गए हैं, मगर उनका जीवन किसी भी अन्य वैदिक अवतार से मेल नहीं खाता है। वह अनूठा है।

उपनिषदों में जैनधर्म

भगवान् ऋषभदेव के समय में ही भारत में दो मुख्य विचार धाराएँ प्रचलित हो गयी थीं, एक धारा वह थी जिसमें कर्म (यज्ञ) की प्रधानता थी और दूसरी वह जिसमें व्रत, नियम, सयम एवं तपश्चरण की मुख्यता थी। ये विचारधाराएँ आज ब्राह्मण विचारधारा और श्रमण विचारधारा के नाम से प्रचलित हैं। भगवान् ऋषभदेव श्रमण विचारधारा अथवा ब्राह्मणधर्म (व्रतधर्म) के आद्य प्रवर्तक थे। अतएव उपनिषदों में जहाँ कहीं श्रमण विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है, वह भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म ही समझना चाहिए।

जाबान उपनिषद् में महायोगी दत्तात्रेय ने जिन अहिंसादि दश यमों का प्रतिपादन किया है, वही ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के मूल व्रत हैं। ऋषभदेव द्वारा प्ररूपित धर्म से दत्तात्रेय के प्रभावित होने का कारण यह है कि ब्राह्मण धर्म वेदों

मे भी अधिक प्राचीन है। वेदों में उसका वर्णन आता है। दत्तात्रेय नवीन है क्योंकि उपनिषद् काल में उनका प्रादुर्भाव हुआ है।

दत्तात्रेय याज्ञिक क्रिया काण्ड और बाह्य शीघ्र का खण्डन करते हुए कहते हैं —“हे मुत्रत, जो मनुष्य ज्ञान-शौच को त्याग कर बाह्य जल आदि से शौच मानने की भ्रमणा में पडा है, वह सुवर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेले का मग्नह करता है।” क्या कोई ब्राह्मणधर्मी ऋषि इस प्रकार उद्गार प्रकट कर सकता है ?

दूसरी जगह वही कहते हैं —“हे मुने ! अहिंसा आदि साधनों द्वारा अनु-भवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा अविनाशी ब्रह्मपद प्राप्त करता है।” उन्होंने दश यमों का प्रतिपादन किया और उनका समर्थन किया है। तप के विषय में वह कहते हैं —“हे मुने ! कृच्छ्रचान्द्रायण आदि को वैदिक लोग तप मानते हैं, किन्तु हम उसे तप स्वीकार करते हैं जिसके द्वारा आत्मा ससार भ्रमण से छूट-कर, बन्धन विमुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।”

दत्तात्रेय जी ने अपने को वैदिकों से पृथक् प्रकट किया है। अतएव अमंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि वे श्रमणशाखा के आचार्य थे, किन्तु वैदिक लोग भी उनका सम्मान करते थे।

यद्यपि श्रमण परम्परा में समय-समय पर अनेक विचारक सन्त सम्मिलित होते रहे हैं और महावीर काल में तो महात्मा बुद्ध जैसे प्रथमकोटि के सन्त भी उसमें सम्मिलित हुए, किन्तु वेदों और उपनिषदों से पूर्व जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव की परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभावशाली धर्म या धर्मप्रवर्तक का परिचय नहीं मिलता। इस कारण दत्तात्रेय के विचार जैनधर्म से ही प्रभावित स्वीकार किए जा सकते हैं।

दत्तात्रेय यद्यपि ब्राह्मणों और श्रमणों के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में रहे, फिर भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का क्रियाकाण्ड उन्हें अभीष्ट नहीं था।

पुराणों में जैनधर्म

उपनिषदों के अनन्तर प्राचीनता के नाते पद्म-पुराण की गणना की जा सकती है। पद्मपुराण में जैनधर्म का विस्तृत वर्णन मिलता है। वैदिक साहित्य की यह एक विशेषता रही है कि उसमें जैनधर्म की स्तुति तो ब्राह्मणधर्म, परम-

हंसधर्म, या यतिधर्म आदि के नाम से की गई है और जहाँ-जहाँ खण्डन किया गया, वहाँ जैनधर्म या पाखण्डधर्म नाम का उल्लेख हुआ है।

पद्मपुराण में जैनधर्म का खण्डन किया गया है, फिर भी उस खण्डन से जैनधर्म के आन्तरिक स्वरूप का बोध हो सकता है। पद्मपुराण का भूमिखण्ड तथा राजा वेणु का वर्णन ध्यान देने योग्य है।

ऋषियो ने पूछा —“सूत जी ! राजा वेणु की उत्पत्ति जब महात्मा से हुई तो उसने वैदिक धर्म का परित्याग क्यों कर दिया ?”

सूत जी बोले—“मैं तुम्हें सारी कहानी सुनाता हूँ। जब वेणु शासन करता था, उस समय उसके दरबार में नंग-धडंग, विशालकाय, श्वेतमस्तक वाला अतिशय कान्तिमान् साधु आघा, कमण्डल लिए जा पहुँचा।” (पुराणों से जैन साधु के वेप के सम्बन्ध में भी पर्याप्त परिचय मिलता है। पद्मपुराण से जैन साधु के दिगम्बरत्व का पता चलता है। शिवपुराण के “तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः” अर्थात्—“मुख पर वस्त्र धारण करने वाले”, इस उल्लेख से स्थानकवासी साधु के वेष का और महाभारत के उत्तुंक के स्पष्टीकरण से श्वेताम्बर साधु के वेष का समर्थन होता है। जान पड़ता है, पुराणकाल में जैन साधुओं के तीनों वेष निश्चित हो चुके थे।)

वेणु ने पूछा—“आप कौन हैं ?”

साधु ने उत्तर दिया—“मैं अनन्त शक्तिमय, ज्ञान-सत्यमय आत्मा हूँ। सत्य और धर्म मेरा कलेवर है। योगी मेरे ही स्वरूप का ध्यान करते हैं। मैं जिन स्वरूप हूँ।”

राजा —“आपका देव, गुरु और धर्म क्या है ?”

साधु .—“अरिहन्त हमारे देव हैं, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु हैं और दया ही हमारा धर्म है। मेरे धर्म में यजन, याजन, वेदाध्ययन जैसा कुछ नहीं है। पितरों के तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि कर्मों का त्याग है। हमारे धर्म में अर्हन् का ध्यान ही उत्तम माना गया है।”

मोह से मुग्ध मनुष्य श्राद्ध आदि करते हैं। मरने के बाद मृतात्मा कुछ खाता नहीं। ब्राह्मणों का खाया मृतात्मा को मिलता नहीं है।

दया का दान करना ही सर्वश्रेष्ठ है। राजन् ! इन मिथ्या कर्मों को त्याग कर जीवों की रक्षा कर, दयापरायण होकर प्रतिदिन जीवों की रक्षा कर। ऐसी

दया करने वाला मनुष्य चाहे चाण्डाल हो या शूद्र, वही हमारे धर्म में ब्राह्मण कहा गया है।

जिन भगवान् का बताया हुआ व्रत ही हमारे कल्याण का सच्चा मार्ग है। सब पर दया करो, शातचित्त होकर दया करो।

राजा ने पूछा —“हे ऋषे ! ये ब्राह्मण और आचार्य गंगा आदि नदियों को पुण्यतीर्थ बतलाते हैं। यह कहा तक सत्य है ?”

साधु —“नरेश, आकाश से बादल एक ही समय जो पानी बरसाते हैं, वही पृथ्वी, पर्वत आदि सभी स्थानों में गिरता है। वही वह कर नदियों में इकट्ठा हो जाता है। नदियां तो जल बहाने वाली हैं। उनमें तीर्थ कैसा ? सरोवर और समुद्र सभी जल के आश्रय हैं। पृथ्वी को धारण करने वाले पर्वत भी केवल पापाणराशि हैं। इनमें तीर्थ नाम की वस्तु नहीं है।”

“यदि समुद्र और नदियों में स्नान करने से सिद्धि मिलती तो मछलियों को तो सबसे पहले सिद्ध हो जाना चाहिए।”

“हे राजेन्द्र ! एक मात्र जिन ही सर्वोत्तम धर्म हैं और तीर्थ हैं। संसार में जिन ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका ध्यान करो।”

राजा वेणु के मन में अर्हत्-धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हुई और उसने परमहंस धर्म (जैनधर्म) स्वीकार कर लिया। इस घटना से ऋषियों को बड़ी चिन्ता हुई।

यह वृत्तान्त खूब विस्तृत है। इसके उल्लेख करने का आशय यह है कि पुराणकाल में जैनधर्म का प्रभाव इतना बड़ा हुआ था कि राजा वेणु जैसे भारत-सम्राट् भी उनके अनुयायी बन गये थे।

वेणु की यह कहानी स्पष्ट घोषणा कर रही है कि बाह्याचार जैनधर्म का स्वरूप नहीं, उसका विश्वास जीवनशोधन पर है।

अब जरा स्कन्दपुराण पर दृष्टि डालिए। वहां आवन्त्य रेखा खण्ड में पाखण्डीजनो के त्याग के प्रकरण में ब्रतियों की निन्दा की गई है। वैदिक व्रत और नर्मदा के स्नान से पापविमुक्ति एवं मोक्षप्राप्ति बतलाई गई है।

दूसरे पुराणों तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के आत्मविषयक गार्ग्य और अजातशत्रु के प्रश्नोत्तर भी जैनधर्म की ओर संकेत कर रहे हैं।

साधना के क्षेत्र में अर्हत् धर्म की साधना सर्वाधिक कठोरतम रही है।

जैनधर्म भारत की उस साधना का प्रतिनिधित्व करता आया है जो सार्वभौम है, जो समाज और व्यक्ति में अमृतत्व की प्राप्ति का मूल स्रोत रही है। जैन साधना वस्तुशोधन की प्रक्रिया पर नहीं, जीवन-शोधन पर विश्वास करती है।

अथर्ववेद में ब्राह्मणों — ब्रतनिष्ठ मुनियों की साधना के जो उल्लेख पाये जाते हैं और भागवत में भगवान् ऋषभदेव की कठोरतम साधना का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उससे भलीभांति प्रकट हो जाता है कि जैनधर्म की साधना शरीर की ममता पर कुठाराघात करके अहंकार और ममकार का विनाश करती हुई अग्रसर होती है। वह स्वर्ग के स्वप्न नहीं देख सकती, मुक्ति का पथ प्रशस्त करती है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० १३१ में “हसगीता” के नाम से यतिधर्म निरूपण का अलग ही अध्याय रखा गया है, जिसमें जैन साधु के नियमों को ही यति धर्म का आचार बतलाया गया है।

एक बार भोजन, मौनवृत्ति, इन्द्रियनिरोध, राग-द्वेष रहितता आदि जैन साधु के गुण ही विष्णुपुराण में यतियों के गुण बतलाये गये हैं। जैनागम में प्रसिद्ध दश धर्मों को ही यति धर्म कहा गया है।

वि० पु० श्लोक ५९।

योगवासिष्ठ में रामचन्द्र जी अपनी कामना इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं।

“नाहं रामो न मे वाच्छा, भावेषु च न मे मनः।

शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥”

“मैं राम नहीं हूँ, मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है, मेरी अभिलाषा तो यह है कि मैं जिनेश्वर देव की तरह अपनी आत्मा में शान्ति लाभ कर सकूँ।”

शिवपुराण में भगवान् ऋषभदेव को विश्व का कल्याणकर्त्ता बताया गया है।

इन सब उल्लेखों का अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म केवल श्रमण परम्परा का मूलाधार है, परन्तु ब्राह्मण परम्परा को भी उसकी महत्त्वपूर्ण देन है। भगवान् ऋषभदेव इस युग के प्रथम धर्म प्रवर्तक हैं। वेदों, वैदिक पुराणों और जैन साहित्य में उनका उपदेश विकल या अविकल रूप से उपलब्ध होता है। वह भारत की ही नहीं, विश्व की अनुपम विभूति थे। स्वनामधेय भगवान् ऋषभदेव विश्व के प्रथम महर्षि थे।

जैनधर्म के तीर्थंकर

जिन चौबीस तीर्थंकरों का सामान्य उल्लेख पहले दिया गया है, उनकी नामावली इस प्रकार है —

संख्या	तीर्थंकर नाम	जन्मस्थान
१.	श्री ऋषभदेव जी	अयोध्या
२.	श्री अजीतनाथ जी	अयोध्या
३.	श्री सभवनाथ जी	श्रावस्ती
४	श्री अभिन्दननाथ जी	अयोध्या
५	श्री सुमतिनाथ जी	अयोध्या
६.	श्री प्रद्मप्रभु जी	कौशाम्बी
७	श्री सुपार्श्वनाथ जी	काशी
८.	श्री चन्द्रप्रभु जी	चन्द्रपुरी
९.	श्री पुष्पदत्त (सुविधिनाथ) जी	काकान्दी
१०.	श्री शीतलनाथ जी	भदलपुर
११.	श्री श्रेयांसनाथ जी	सिंहपुरी—सारनाथ
१२.	श्री वासुपूज्य जी	चम्पा पुरी
१३.	श्री विमलनाथ जी	कम्पिला
१४.	श्री अनन्तनाथ जी	अयोध्या
१५	श्री धर्मनाथ जी	रत्नपुरी
१६.	श्री शान्तिनाथ जी	हस्तिनापुर
१७.	श्री कुन्धुनाथ जी	हस्तिनापुर
१८.	श्री अरहनाथ जी	हस्तिनापुर
१९.	श्री मल्लिनाथ जी	मिथिलापुरी
२०.	श्री मुनि सुव्रतनाथ जी	राजगृह
२१.	श्री नेमिनाथ जी	मिथिला
२२.	श्री अरिष्टनेमिनाथ जी	शौरीपुर
२३.	श्री पार्श्वनाथ जी	काशी
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	कुडग्राम—वैशाली

इनमें से धर्मनाथ, अरहनाथ और कुन्धुनाथ का जन्म कुरुवग में, मुनि सुव्रतनाथ का हरिवश और शेष तीर्थंकरों का जन्म इक्ष्वाकुवश में हुआ था।

सभी तीर्थंकरों का जीवन कठोर तपोमय था। सभी तीर्थंकरों ने प्रव्रज्या अंगीकार की, तीव्रतपश्चर्या की और पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। कृत कृत्य होकर भी जगत् के समस्त जीवों की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया, व्रतों की व्यवस्था की और तत्त्व का यथार्थ स्वरूप बतलाया। अन्त में निर्वाण प्राप्त कर परमात्मा बने और सिद्ध बुद्ध तथा अनन्त आत्मिक गुणों से समृद्ध हुए। इनमें से बहुप्रचलित तीन तीर्थंकरों का जीवन परिचय नीचे दिया जाता है।

भगवान् नेमिनाथ

यह यदुवश के महान् प्रतापी महाराज समुद्रविजय के पुत्र और महारानी शिवा के आत्मज और श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक सन्ध्योपासना के गान्तिमन्त्र में “अरिष्टनेमि शान्तिर्भवतु,” इन शब्दों से उनकी स्तुति की जाती है। वेदों में भी अनेक स्थलों पर उनका उल्लेख हुआ है।

राजा उग्रसेन की कन्या राजमती के साथ इनका विवाह होना निश्चित हुआ। वाराणसी रवाना हुई और स्वसुरगृह पहुँच ही रही थी कि मार्ग में अरिष्टनेमि ने पशुओं की कल्याण चीत्कार सुनी। सारथी से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि वाराणसी के मासभक्षण के लिए यह सब पशु एकत्र किए गए हैं। यह जानकर उन्हें असह्य मनोव्यथा हुई। उनका अन्त करण कल्याण से प्लावित हो उठा, उसी समय उन्होंने सारथी को आज्ञा देकर सब पशुओं को बन्धन-मुक्त करा दिया।

इस घटना का उनके जीवन पर स्थायी प्रभाव पड़ा। वे विवाह से मुक्त हो कर विरक्त हो गये और तपस्या करने चले गये।

भगवान् अरिष्टनेमि का पशुसंरक्षण आन्दोलन जूनागढ़ के निकट से आरम्भ हुआ और समूचे सौराष्ट्र और भारत में फैल गया। इस त्यागमूलक आन्दोलन ने लोगों के नेत्र खोल दिये। आज भी सौराष्ट्र में शेष ससार की अपेक्षा बहुत कम हिंसा होती है, यह भगवान् अरिष्टनेमि के इस पशुसंरक्षण आन्दोलन का ही फल है।

गिरनार गिरि पर आरूढ़ होकर अरिष्टनेमि ने स्वतः दीक्षा धारण की। तपस्या करके कर्मों का क्षय किया और पूर्ण ज्ञानी बने। अन्त में मुक्तिलाभ कर सिद्ध हो गए।

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म २८०० वर्ष पहले हुआ था। वे राजपुत्र थे। महाराजा अश्वसेन इनके पिता थे। माता का नाम वामा देवी था। भारत के विख्यात, विद्याधाम काशी में इनका जन्म हुआ था।

गगातट पर एक तापस अग्निताप सहन कर रहा था। पार्श्वनाथ ने उसे बतलाया कि तेरी धूनी के लकड़ में नाग-नागिन का एक जोड़ा जल रहा है। राजकुमार की यह बात सुनकर तपस्वी क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गया। तापस ने अग्नि में से वह लकड़ निकाल कर फाड़ा तो राजकुमार की बात सच निकली। दर्शकगण तापस के अज्ञान का विचार कर म्लानमुख हो गये। तापस लज्जित था, क्रुद्ध था, परन्तु विवश था।

मृत्यु के पश्चात् तापस देवयोनि में जन्मा। उधर पार्श्वनाथ गृहत्याग कर साधु बन चुके थे। उस देव ने अपने अपमान का प्रतिशोध करने के लिए भगवान् को बहुत कष्ट पहुँचाये। उसने एक बार उन्हें जलवृष्टि में डुबा देने की कुचेष्टा की, किन्तु उस नाग-नागिन के युगल ने, जो मर कर धरणेन्द्र देव और पद्मावती के रूप में जन्मा था, आकर भगवान् का उपसर्ग निवारण किया।

भगवान् पार्श्वनाथ भारत के प्रसिद्धतम नागवंश में उत्पन्न हुए थे। आज के इतिहासज्ञ विद्वानों ने आपकी ऐतिहासिकता इस प्रकार स्वीकार की है :—

“श्री पार्श्वनाथ भगवान् का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, अस्त्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम सवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत भर में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।”

“श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्त्य और अपरिग्रह-इन तीनों नियमों के साथ अहिंसा का मेल विठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।”

इन उद्घरणों से विदित होगा कि अहिंसा के सर्वप्रथम (इतिहास सिद्ध) व्यावहारिक प्रयोग-द्रष्टा पार्श्वनाथ ही थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने लगभग ७० वर्ष तक भारतव्यापी ग्रहिणा का प्रचार किया और १०० वर्ष की उम्र में सम्मेद-शिखर पर जाकर निर्वाण प्राप्त किया। भारत में ग्रहिणा को विराट् बनाने का श्रेय भ० पार्श्वनाथ का ही है, जिन्होंने जगली जातियों को ग्रहिसक बनाया। कृतज्ञता प्रकाशन के लिए और उनके पावन उपदेशों की चिररमृति के लिए भारत राष्ट्र ने पर्वतों तक के 'पारस' नाम रख दिये। सम्मेद शिखर का दूसरा नाम "पारसनाथ-हिल" है।

प्रसेनजित पर हुए बर्बर आक्रमण के अवसर पर काशी-काँगन राष्ट्रों की ओर से आप अकेले ही उसकी सहायता करने गये। उन्होंने एक ही अमृत-वचन से एक दूसरे के खून के प्यासे राजाओं को गान्त करके मित्र बना दिया था। यह उनके विलक्षण वाक्-काँगन का और आन्तरिक शुचिता का ज्वलन्त प्रमाण था।

भगवान् महावीर

उस युग के महाराजा तथा गणराज्य के अधिपति चेटक की ब्रह्मिणी घी त्रिगला देवी। उनका विवाह जातृवशीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के साथ हुआ। जैन-गास्त्री में महाराज सिद्धार्थ का उल्लेख "सिद्धत्थे खत्तिए" और "सिद्धत्थे राया," के नाम से हुआ है।

यही देवी त्रिगला भगवान् महावीर की माता थी, और सिद्धार्थ भगवान् के पिता थे। ईसा से ५६६ वर्ष, पूर्व ऋतुराज वसन्त जब अपने नव यौवन की अगड़ाई ले रहा था, नैसर्गिक सुपमा अपना सिगार कर रही थी, प्रकृति प्रसन्न थी और जन-जन के मानस में अपूर्व उल्लास और आह्लाद उत्पन्न कर रही थी, तब चैत्रगुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान् महावीर ने अपने जन्म से इस पृथ्वी को पावन किया। उनका नाम वर्द्धमान रक्खा गया।

उनके बाल्यकाल की अनेक घटनाएं जैन ग्रंथों में उल्लिखित हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान "होनहार विरवान के, होत चीकने पात" की उक्ति के अनुसार बचपन से ही अनीव बुद्धिमान्, विशिष्ट ज्ञानवान्, धीर, वीर और साहसी थे। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे, अतएव ग्रहिणा, दया, करुणा और संयमशीलता के वातावरण में उनका लालन-पालन हुआ।

वर्द्धमान में एक बड़ी जन्मजात विगेषता थी अलिप्तता — अनासक्ति की। राजप्रासाद में रहते हुए भी और उत्कृष्ट भोग सामग्री की प्रचुरता होने पर भी वे समस्त भोग पदार्थों में अनासक्त रहते थे। उनकी अन्तरात्मा में एक असाधारण प्रकाश था, एक दिव्य ज्योति थी, जो उन्हें एक निराला ही पथ प्रदर्शित करती रहती थी।

वर्द्धमान स्वभाव से ही अत्यन्त गम्भीर और सात्विक थे। उनकी देह अनुपम स्वर्ण समगौर वर्ण और अतिशय प्राणवान थी। उनका आनन ओजस्वी, ललाट और वक्षस्थल विगाल था। सात हाथ ऊँचा उनका सम्पूर्ण शरीर असाधारण सौन्दर्य की पुरुषाकार प्रतिमा के समान था। फिर भी उनका मानस वैराग्य — रग से रगा हुआ था। वे कभी-कभी अतिशय गभीर प्रतीत होते, मानो ससार के दुःख—दावानल से पार होने की चिन्ता में हो। इठलाता हुआ यौवन भी उन्हें भोगों में नहीं फसा सका। उनकी वृत्तिया वस्तुतः आत्माभिमुखी थी।

दिगम्बर—परम्परा के अनुमार वह अविवाहित ही रहे और श्वेताम्बर—परम्परा के अनुमार विवाहित होकर भी वे कभी भोगों में आसक्त नहीं हुए।

वर्द्धमान के माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, उस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। विरक्ति के जन्मजात सस्कार सभवतः इस घटना से उभर आये और उन्होंने अपने ज्येष्ठ बन्धु नन्दिवर्धन के समक्ष दीक्षित होने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया। नन्दिवर्धन माता-पिता के वियोग से व्याकुल थे ही, वर्द्धमान के इस प्रस्ताव से उनकी मनोव्यथा की सीमा न रही। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा—‘बन्धु, जले पर नमक मत छिड़को। माता पिता के विछोह की कथा ही दुःसह लग रही है, तिस पर भी तुम मुझे निराधार छोड़ देने की बात कहते हो। मैं इतनी बड़ी व्यथा न सह सकूँगा।’

भगवान् वर्द्धमान अतिशय नम्र, सौम्य, विनीत और दयालु थे। किसी को पीड़ा उपजाना तो दूर रहा, वे किसी को म्लानमुख भी नहीं देख सकते थे। नन्दिवर्धन के व्यथा-निवेदन से उन्होंने सकल्प में परिवर्तित तो नहीं किया मगर दो वर्ष के लिए उसे स्थगित कर दिया। इन दो वर्षों में वे गृहस्थ योगी की भाँति रहते रहे।

आखिर तीस वर्ष की भरी जवानी में उन्होंने गृह त्याग किया। वह बुद्ध की भाँति, पारिवारिक जनो को सोता छोड़कर, रात्रि में, चुपके चुपके से नहीं निकले, वरन् कुटुम्बियों से अनुमति लेकर त्यागी बने।

यही से वर्द्धमान स्वामी का साधक-जीवन आरम्भ होता है। वारह वर्ष, पाचमास और पन्द्रह दिन तक कठोरतर साधना करने के पश्चात् उन्हें केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

इस लम्बे साधना-काल का विस्तृत वर्णन जैनागमो में उपलब्ध है। उससे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान की साधना अपूर्व और अद्भुत, थी। जब हम उनके तीव्रतम तपश्चरण का वृत्तांत पढते हैं तो विस्मय से रोगटे खड़े हो जाते हैं। इस विशाल भूतल पर अमख्य महापुरुष, अवतार कहे जाने वाले विशिष्ट पुरुष तथा तीर्थंकर हुए हैं, मगर इतनी कठिन तपस्या करने वाला पुरुष दूसरा नहीं हुआ। भयानक से भयानक यातनाओं में भी उन्होंने अपरिमित धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता का आदर्श उपस्थित किया। गोपाल, शूलपाणि यक्ष, संगम देव, चण्डकौशिक सर्प, गौशालक और लाढ देश के अनार्य प्रजाजनो द्वारा पहुंचाई गई पीड़ाएं भगवान् की अनन्त क्षमता और सहिष्णुता का ज्वलन्त निर्देशन हैं। रोमांच-कारिणी उत्पीड़ाओं के समय भगवान् हिमालय की भांति अडिग, अडोल और अकम्प रहे। तपश्चरण में असाधारण वीर्य प्रकट करने के कारण ही वे "महावीर" के सार्यक नाम से विख्यात हुए।

आगत कष्टों, परीषहो और पीड़ाओं को दृढतापूर्वक सहर्ष सहन करने वाला पुरुष वीर कहलाता है, परन्तु भगवान् तो आत्मशुद्धि के लिए कभी-कभी कष्टों को निमंत्रण देकर बुलाते, उनके साथ संघर्ष करते और विजयी बनते थे। इस कारण वह अतिवीर और महावीर कहलाये। विशेष वर्णन के लिए देखिए आचाराङ्ग, (प्र० द्वि० श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यकचूर्णि आदि)

कितनी अद्भुत बात है कि साढे वारह वर्ष के तपस्याकाल में भगवान् ने छह महीनो जितना लम्बा काल निराहार और निर्जल रहकर बिता दिया। इस १२॥ वर्ष के दीर्घकाल में उन्होंने कुल मिलाकर ३४६ दिन भोजन किया और शेष दिनों में उपवास किया। और यह भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि उन्होंने एक अपवाद के सिवाय कभी निद्रा भी नहीं ली। जब नीद आने लगती तो वे थोड़ी देर चंक्रमण करके निद्रा भगा देते और सदैव जागृत रहने का ही प्रयत्न करते रहते थे। इससे ज्ञात होता है कि अभ्यास के द्वारा निद्रा पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है।

सर्वोत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप भगवान् महावीर को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सम्पत्ति उपलब्ध हुई। इससे इन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात् भगवान् ने तत्व के स्वरूप तथा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। तीस वर्ष तक स्थान-स्थान पर परिभ्रमण करके अन्त में पावापुरी पधारे। मोक्ष की घड़ी निकट थी, किन्तु वे विश्व को अपनी पुण्यमयी, कल्याणकारिणी और परमपावनी वाग्धारा से आप्लावित कर रहे थे। आखिर कार्तिक कृष्णा अमावस्या को रात्रि में वे समस्त कर्मों से विनिर्मुक्त, अशरीरी सिद्ध हो गए।

भगवान् महावीर विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी। उन्होंने सर्वतोमुखी क्रान्ति का मंत्र फूँका था। आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, यहाँ तक कि भाषा के क्षेत्र में भी उनकी देन बहुमूल्य है। उन्होंने तत्कालीन तापसों को तपस्या के बाह्य रूप के बदले बाह्याभ्यन्तर रूप प्रदान किया। तप के स्वरूप को व्यापकता प्रदान की। पारस्परिक खण्डन-मण्डन में निरत दार्शनिकों को अनेकान्तवाद का महामंत्र दिया। सद्गुणों की अवगणना करने वाले जन्मगत जातिवाद पर कठोर प्रहार कर गुण-कर्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। इन्होंने नारियों की प्रतिष्ठा को भूले हुए भारत को साध्वी-सघ बनाकर प्रतिष्ठा प्रदान की। यज्ञ के नाम पर पशुओं से खिलवाड़ करने वाले स्वर्गकामियों को स्वर्ग का सच्चा मार्ग बतलाया। नदी-समुद्रों में स्नान करने से, आग में जल मरने से या पाषाणों की राशि डकट्ठी कर देने से धर्म समझने की लोकमूढता का ह्रास किया। लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाकर पण्डितों के भाषाभिमान को समाप्त किया। संक्षेप में यह कि महावीर स्वामी ने समाज के समग्र मापदंड बदल दिये और सम्पूर्ण जीवन दृष्टि में एक दिव्य और भव्य नूतनता उत्पन्न कर दी।

भगवान् महावीर का उदार संघ

यो तो भगवान् महावीर के चौदह हजार सत् शिष्य थे, किन्तु ग्यारह उनमें प्रधान थे, जो जैन परम्परा में गणधर नाम से विख्यात हैं। यह ग्यारहो शिष्य पहले वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और वेद-वेदांग के पारगामी प्रखर पण्डित थे। इनमें भी गौतम इन्द्रभूति के पाण्डित्य की सबके ऊपर धाक थी। वह भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने गये। पर भगवान् से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये। उनके पश्चात् शेष दसों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। सबने आर्हती दीक्षा अगीकार की और वे वीरसंघ के स्तम्भ बने।

भगवान् के अनुपम त्यागी, तप और सयममय उपदेश सुनकर वीरसंघ,

वीरयक्ष संजय, एण्येक, सेय, गिव, उदयन तथा गंख, इन आठ समकालीन राजाओं ने प्रब्रज्या ग्रहण की थी ।

अभय कुमार, मेघकुमार आदि अनेक राजकुमारों ने प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया । स्कन्धक प्रभृति अनेक तापस तपस्या का रहस्य जानकर भगवान की गरण में आये, राजकुमारी चन्दनवाला, देवानन्दा आदि छत्तीस हजार नागिया माध्वी-सव में प्रविष्ट हुई ।

भगवान् के गृहस्थ अनुयायियों में मगधाधिपति श्रेणिक, कूणिक (अजात-शत्रु), वैशालीपति चेटक (महावीर के मामा), अवंतीपति चण्डप्रद्योत आदि अनेक भूपति थे । आनन्द, काम देव आदि लाखों श्रावक थे, जिनमें शकटाल जैसे धर्मनिष्ठ कुंभार भी सम्मिलित थे । हरिकेगी और मेलार्य जैसे अतिशूद्र भी भगवान् के सव में साधुपद प्राप्त कर सके थे । कहना न होगा कि उस जमाने में यह एक जवर्दस्त क्रान्ति थी । अब तक के ज्ञात इतिहास में भगवान् महावीर ही प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध तीव्र और स्पष्ट स्वर में आवाज उठाई और अस्पृश्यों को अपने मध में उच्च पद प्रदान किया ।

महावीर की देन

१ जाति-पाँति की भेदभाव भरी दरारों को दूर कर मानव समाज के लिए मार्गभौमिक एवं सर्वसुलभ धर्मव्यवस्था स्थापित करना । ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय वर्णों का अभिमान आदि बुराइयों को मिटाकर गुण विकास की ओर मानव-जाति को उन्मुख करना ही महावीर का अधिक लक्ष्य रहा है ।

२ विगट् विश्व में सचराचर (जगम एवं स्थावर) समस्त प्राणीवर्ग में एक शाश्वत स्वभाव है और वह है जीवन की आकांक्षा, सुख की शोध, महान् बनने की उत्प्रेरणा और परमानन्द प्राप्त करने की उद्भावना । इसलिए किसी को "मा हणो" न कष्ट ही पहुँचाओ और न किसी अत्याचारी को प्रोत्साहन ही दो ।

३ आचार में अहिंसा, बुद्धि में समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श नाकार करो ।

४ आत्मा का स्वभाव ही धर्म है और विभाव ही अधर्म है, यही कारण है कि भगवान् ने पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी विकास के लिए पूर्ण समनता प्रदान की है ।

५. भाषा के व्यामोह पर जो कि अभी तक भी भारत का खून चूस रहा है, और देश को प्रान्तों के नाम से बंटवारे कर खडित कर रहा है, भगवान ने गहरा कुठाराघात किया है। इसलिए तत्कालीन पंडिताऊ भाषा संस्कृत में तत्वज्ञान न देकर उस समय की आम जनता की भाषा अर्ध-मागधी प्राकृत का ही भगवान् ने अपनी वाणी का माध्यम रखा है, जिसमें सब लाभ उठा सके।

६ ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले पशुहिंसा से भरे यज्ञ, देवीपूजन तथा पशुबलिर्कर्म और पर्व के विरुद्ध में भगवान् ने अपनी आवाज बुलन्द की और मयम, तप, अहिंसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित की।

७ उनका उपदेश ममता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कपाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणों के विकास के लिए होता था।

८ मनुष्य का भाग्य ईश्वर के हाथों में न देकर, मनुष्य-मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता तथा पुरुषार्थ की प्रधानता और काल, कर्म, नियति, स्वभाव, तथा पुरुषार्थ का ममन्वय स्थापित करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसी का नाम कर्मवाद है।

९ आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, और क्रियावाद महावीर की विशेष देन है।

१० प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकता है, रागद्वेष-रहित व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इच्छाओं का निरोध ही यज्ञ है, आत्मा की निर्मलता धन-दौलत में नहीं। त्याग में ही कल्याण सम्भव है। अहंकार का दमन और पर का रक्षण ही धर्मियत्व है।

संसार के समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोद, निर्बल एवं विपन्न के प्रति दयाभाव और विपरीत वृत्ति वाले मनुष्य के प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही धर्म है।

महावीर स्वामी दूसरों के प्रति हितैषी एवं अपने प्रति शोधक बनने का ही उपदेश देते थे।

तत्कालीन धर्म-प्रवर्तक

महावीर कालीन अन्यान्य धर्म प्रवर्तक —जामाली, मखली पुत्तगोशाल पूरणकश्यप, प्रकृद्धकात्यायन, अजितकेशी कम्बलि, मजय वेलट्ठपुत्त और

गौतमबुद्ध आदि आदि भगवान् महावीर के समान काल में अपना-अपना धर्म स्थापित कर रहे थे । इनमें जामाली भगवान् महावीर के जामाता थे, जो महावीर के केवल-ज्ञान होने पर १५ वर्ष पश्चात् महावीर के विरोधी बन गए थे ।

गोशालक

गोशालक भगवान् महावीर का गिप्य था । उसके सम्प्रदाय का उल्लेख आजीवक मत के नाम से आज भी कहीं-कहीं शास्त्रों में पाया जाता है । बौद्ध पिटकों में भी उसका उल्लेख है ।

गोशालक का जीवन अत्यन्त विलक्षण था, किन्तु जितना विलक्षण था उतना ही उच्छृंखल भी था । उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था । भगवान् महावीर से उसे ज्ञान-प्राप्ति हुई । आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना में उसके जीवन का विकास हुआ । लेकिन उसकी बुद्धि ने पलटा खाया और अरिहन्त देव से उसने वाद-विवाद कर पराजय का मुख देखा । अन्त में उसने क्षमा याचना की, तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया यही गोशालक का रेखाचित्र है ।

जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक को भगवान् महावीर से आध्यात्मिक ज्ञान की विरासत मिली थी । यहाँ तक कि उच्च विद्याएं भी उसने भगवान् की कृपा से प्राप्त की थी । जिनमें तेजोलेश्या जैसी लब्धिया भी हैं लेकिन उसकी उद्वृण्ड वृत्ति और उच्छृंखलता ने उसको आजीवक सम्प्रदाय बनाने के चक्कर में डाला, और उसने केवल नियति को मुख्य सिद्धान्त बनाकर सम्प्रदाय की स्थापना की ।

उस समय तो, गोशालक का वर्चस्व एव प्रभाव इतना था कि सम्प्रदाय चल निकला । लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका प्रभाव कम हो गया । गोशालक का जीवन सुन्दर होते हुए भी शालीनता-हीन था, अतः महावीर ने उसे अपने सुशिष्य के स्थान पर कुशिष्य रूप में स्वीकार किया है ।

गोशालक और महावीर का वर्णन भगवती सूत्र में बहुत विस्तार से दिया गया है । उसकी तेजोलेश्या से दो साधुओं का भस्म हो जाना और भगवान् के दाह का होना भी शास्त्र में वर्णित है ।

उपर्युक्त सभी धर्म-प्रवर्तकों से भगवान् महावीर का दार्शनिक, सैद्धान्तिक अथवा आचारविषयक बहुते मतभेद हैं । महावीर समन्वय-दृष्टि अथवा अनेकान्तात्मक विचारणा को ही मुख्य महत्व देते थे । वे आग्रह को बुरा मानते थे ।

विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा आंगिक सत्यों का समन्वय करना ही अनेकान्त है।

महावीर और बुद्ध

महावीर का विशेष सामना बुद्ध से हुआ। बुद्ध शाक्य गोत्रीय थे। शुद्धोधन महाराज के पुत्र थे, वे भी तपस्वी बने, उन्हें ज्ञान भी प्राप्त हुआ, उपदेश-परम्परा द्वारा उन्होंने भी अपने को अरिहन्त बताया।

महावीर और बुद्ध की तुलना इस प्रकार की जा सकती है :—

	महावीर	बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
माता	त्रिगला	महामाया
गोत्र	कश्यप	कश्यप
ग्राम	क्षत्रियकुंडग्राम	कपिलवस्तु
जात	जात	शाक्य
जन्म सवत्	ई० पू० ५६६	ई० पू० ६००
स्त्री	यशोदा	यशोधरा
सतान	प्रियदर्शना (पुत्री)	राहुल (पुत्र)
दीक्षा	५६६ (३० वर्ष की उम्र में)	५७१ (२६ वर्ष की उम्र में)
आदितप	१२ वर्ष	६ वर्ष
ज्ञान प्राप्ति का स्थान	ऋजुवाल्का तट	गया
निर्वाण	वि० स० से (५२७) वर्ष पूर्व	वि० स० ५२० वर्ष
निर्वाण स्थान	मध्यम अपापा (पावापुरी)	कुशी नगर
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
महाव्रत	पाच महाव्रत	पाच शील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद (विभज्यवाद)

महावीर, और बुद्ध में समानता और विभिन्नता

जहा कुछ विभिन्नताएँ हैं, वहा भगवान् महावीर और बुद्ध में समानताएँ भी हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह और तृष्णा निवृत्ति आदि

मे बुद्ध की भी दृष्टि बहुत ऊची थी। ब्राह्मणसंस्कृति के सम्मुख ये दोनों श्रमण-संस्कृति के उज्ज्वल नक्षत्र थे।

न केवल एशियाई वसुधैरा पर, वरन्, समस्त विश्व के कोने-कोने मे दोनों ने अपनी दिव्य कृष्णा का अमृत प्रवाहित किया है और ज्ञान-प्रकाशद्वारा विश्व की भूत एव भावी पीढियों को मार्ग दर्शन दिया है।

जीवन-शोचन, अहिंसा-पालन और श्रमण के लिए आवश्यक नियमों में इन दोनों महापुरुषों में सामान्यतया अधिक अन्तर नहीं है।

दोनों में भोग के प्रति गहरी घृणा है। राग-द्वेष के प्रति शत्रुता है। आत्म-शुद्धि के लिए उत्कट प्रेरणा है। अहिंसा दोनों को प्रिय रही है।

दोनों संस्कृतियों की मूल प्रेरणा एक

जैन संस्कृति और बौद्ध संस्कृति की मूल-प्रेरणा लगभग एक सी है। “पार्श्वनाथा चा चारयाम” ग्रंथ में पं० धर्मानंद कौशाम्बी ने तो यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम धर्म का ही पांच-शील अथवा अष्ट अंग के नाम से विकास किया है।

ऐतिहासिक विद्वान तो यहाँ तक खोज कर चुके हैं कि भगवान् बुद्ध पार्श्वनाथीय सम्प्रदाय के किसी साधु के साथ रहे थे। किन्तु बाद में जाकर उन्हें कठोर तपस्या के प्रति घृणा हो गई और उन्होंने अपना अलग मध्यम मार्ग निकाला।

“भारतीय संस्कृति और अहिंसा” में धर्मानंद कौशाम्बी ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम की तथा बुद्ध के मध्यम-मार्ग की बड़ी सुन्दर तुलना की है।

सम्यक् कर्म	(अहिंसा, अस्तेय)
सम्यक् वाचा	(असत्य)
सम्यक् आजीव	(अपरिग्रह)

इस प्रकार पार्श्वनाथ के चार यामों का समावेश अष्टांगिक मार्ग के तीन अंगों में हुआ है। गेष पांच भी अहिंसा के ही पोषक हैं। जैसे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

बुद्ध इस प्रकार का एव वाचा का सयम, सम्यक्त्व करके मानसिक-शुद्धि की अभिवृद्धि की कल्पना करते थे।

जैन और बौद्ध धर्म में चाहे धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक मतभेद हो, तो भी

इन दोनों धर्मों ने और उनकी संस्थाओं ने विश्व में अहिंसा प्रचार कार्य का बहुत बड़ा अनुष्ठान रचा है। दोनों श्रमण संस्कृति के शुद्ध मूलाधार रहे हैं। आज भी बौद्ध समाज में जैनधर्म के प्रति श्रद्धाभावना है।

सात निन्हव और अन्य विपक्षी

१. भगवान् महावीर के केवल ज्ञान के १४ वर्ष पश्चात् बहुरत सम्प्रदाय के स्थापक जामाली निन्हव का नाम आता है। आज तो इस सम्प्रदाय का नाम ही शेष है।

२ १६ वर्ष बाद, जीव के प्रदेशों को लेकर, चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त ने एक बहुत बड़ा वितण्डावाद खड़ा किया था।

३ महावीर निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अव्यक्तवादी अषाढाचार्य ने;

४ २२० वर्ष बाद समुच्छेदवादी महागिरि के प्रशिष्य और कौण्डिन्य के शिष्य अश्वमित्र ने साधारण बातों पर प्रपञ्च उठाकर, सभ में फूट डालने की कोशिश की थी।

५ २२८ वर्ष बाद द्वैक्रियवादी महागिरि के प्रशिष्य और धनगुप्त के शिष्य गगाचार्य ने भी इसी प्रकार का प्रपञ्च खड़ा किया था।

६. ५४४ वर्ष पश्चात्, त्रिराशिवादी श्री गुप्त के शिष्य रोहगुप्त ने, और

७ ५८४ वर्ष पश्चात् अभद्रवादी गोष्ठा महिल ने साधारण सी बातों पर धनगुप्त और अश्वमित्र के समान फूट डालने का प्रयास किया था, परन्तु सभ अटूट रहा। फूट स्वयं फूट गई। तत्पश्चात् इन्होंने अपने मत खड़े किये।

महावीर सभ में सात निन्हवों ने भयकरतम फूट डालने का प्रयास किया था। किन्तु सभ का सौभाग्य रहा कि फूट फल न सकी, और सातों निन्हवों को परास्त होना पड़ा।

सचेल अचेल—भगवान् महावीर के सभ में जो सबसे बड़ी खटकने वाली बात थी सचेल और अचेल की विवादास्पद गुत्थी।

इसका मूल कारण—है पार्वनाथ के साधु सचेल थे और महावीर का बल अचेल होने की ओर था। जिसका समाधान पार्श्वपात्यक केशी कुमार श्रमण को, महावीर संघ के प्रथम गणधर, गौतमस्वामी के द्वारा दिया गया था।

याम, चार और पांच —गौतमस्वामी ने चार याम की जगह पाँच याम सप्रतिक्रमण, रात्रि दिवस की व्यवस्था का जितना तर्कपूर्ण उत्तर दिया, उतनी

वस्त्रो के प्रति कठोर नीति नहीं अपनाई। मोक्ष के लिए पारमार्थिक लिंग, साधन, ज्ञान, दर्शन चारित्र्य रूप ग्राह्यात्मिक सम्पत्ति का निर्देश किया और सचेल, अथवा अचेल को लौकिक लिंग मात्र कह कर और उसे पारमार्थिक नीमा से बाहर कहकर, उपेक्षा कर दी गई।

यही कारण थे कि समाज में सचेल और अचेल की कोई निश्चित और नियमित रूपरेखा तैयार नहीं हो सकी।

महावीर ने महाव्रत और प्रतिक्रमाणात्मक अन्तःशुद्धि पर जितना दृढ़ता से बल दिया उतनी दृढ़ता से सचेल अथवा अचेल के एकात्मिक पक्ष पर नहीं दिया। यही कारण है कि उनके समय में तो विवाद समन्वयात्मक सिद्धान्तों से और पार्व्यापात्यिक और महावीर मघ में समझौतेवादी दृष्टिकोण से समूचे मंघ में प्रेम से काम चलता रहा, किन्तु जम्बू स्वामी एवं भद्रबाहु जी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के समाज में उठ जाने से सचेल और अचेल का पुराना विवाद श्वेताम्बर और द्विगम्बर नाम से फूट निकला।

इतना निश्चित है कि भगवान् महावीर ने जब गृहत्याग किया तब एक वसन चेल धारण किया था, क्रमशः उन्होंने हमेशा के लिए उस वस्त्र का त्याग कर दिया और पूर्णतः अचेल हो गए।

आचाराग सूत्र १ श्रुत, अध्याय ६ उद्देशा प्रथम में उनकी इस अचेलत्व भावना का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

जैसे कि —

णोचेविसेण वत्थेण, पिहिस्सामि तसि हेमते ।

से पारए आवकहाए, एय खु अणुधम्मिय तस्स ॥ २

सवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं ।

अचेलए ततो चाई, तं वौसज्ज वत्थ मणगारे ॥ ४

णो सेवती य परवत्थ, परपाए वि सेण भुंजित्था ।

परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखाडि असरणाए ॥ १९

अर्थात् भगवान् महावीर के दीक्षा धारण समय इन्द्र प्रदत्त एक देववस्त्र प्राप्त हुआ था किन्तु भगवान् ने यह निश्चय किया कि मैं इसे छोड़कर ही शीत नहूंगा और फिर उन्होंने ग्राजीवन वस्त्र धारण नहीं किया। इस देव-दत्त वस्त्र को पन्म्परा रूप में ही स्वीकार किया और तेरह मास उपरान्त उतार दिया।

तत्पश्चात् अचेलक होकर विचरने लगे। सर्वथा वस्त्र रहित विचरण करने लगे। वे न तो पराए पात्र में भोजन करते थे, मानापमान का सर्वथा त्याग कर, स्वयं भगवान् गृहस्थों के रसोईघर में जाकर निर्दोष आहार की गवेषणा करते थे।

उपर्युक्त पाठ द्वारा प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर साधनावस्था में सर्वथा अचेल और उपकरण रहित थे, किन्तु भगवान् महावीर ने आचाराग सूत्र के दूमरे धृतस्कन्ध में साधुओं की वस्त्रैषणा में वस्त्र रखने का स्पष्ट विधान किया है। आचाराग सूत्र १४ अध्याय प्रथम उद्देशे में इसका स्पष्टीकरण मिलता है कि साधु ऊन का, पान का, कपास और लूई का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशंसा

लेकिन वस्त्र-विधान करने पर भी भगवान् महावीर आचाराग के छठे अध्याय के ३ उद्देशे में अचेलक साधु की प्रशंसा करते हैं और साधु के तीन मनोरथों में पहला मनोरथ 'अचेल भूयो आवई' के द्वारा अचेलक बनने की ओर साधु को उत्प्रेरित करते हैं। किन्तु, इन उद्धरणों से स्पष्ट अचेलकत्व का ऐकान्तिक आग्रह रखने वालों के लिए वस्त्र-विधान किया और अचेलकत्व को आदर्श रखा इससे ऐकान्तिक किसी भी सिद्धान्त सचेलकत्व व पूर्ण अचेलकत्व की पुष्टि नहीं होती है। इसलिए शास्त्र में पार्श्व-पात्यक परम्परा में से निकल कर महावीर संघ में सम्मिलित होने वाले साधु और स्थविरो का, जहाँ सभी परिवर्तनों का उल्लेख आता है, वहाँ पर उनका सचेलकत्व से अचेलकत्व की ओर आने का कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। जबकि उनके चारयाम के स्थान पर पाच महाव्रत और रात्रिदिवस के प्रतिक्रमण का स्पष्ट विधान किया गया है। हमने उपर्युक्त स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक समझा है कि श्वेताम्बर आम्नाय में वस्त्र पर और दिग्म्बर आम्नाय में अवस्त्र पर जोर दिया गया है। लेकिन भगवान् महावीर न सचेलकत्व और अचेलकत्व के आग्रही थे, न विरोधी।

क्योंकि भगवान् महावीर को वस्त्रविवाद में कुछ रस नहीं था और न पारमार्थिक सिद्धि में वस्त्रों का कुछ भी उपयोग वे मानते थे। उन्हें तो साधक के लिए अन्त शुद्धि की अधिकतम अपेक्षा थी। यही कारण है कि उस समय वस्त्रावस्त्र के विवाद को समन्वयात्मक दृष्टिकोण से सुलझा लिया गया। हा,

द्रव्य, क्षेत्र, काल और मानव की उसमें व्यवस्था कर दी गई। जिसके अनुसार युगानुरूप समस्त सष बाह्य विधान में उचित परिवर्तन कर सके। ध्यान रहे, अचेलकत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर आम्नाय में स्त्री के मोक्ष का द्वार बंद कर दिया गया। इसमें हम आग्रह का विकृत रूप कह सकते हैं। त्याग की ओर दंडना एक सत्य सिद्धान्त है, जो श्रेयस्कर है। किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के महत्त्व को भुलाकर नहीं, वरन् उनको योग्य कसीटी पर कसकर ही किसी सिद्धान्तानुसार प्रगति करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

भगवान् महावीर की अन्य धर्मों पर छाप

श्रमण सस्कृति के प्रतिष्ठापकों में महावीर का एक अनन्यतम स्थान है। धार्मिक अन्वश्रद्धा, जनता की रुढ़िवादिता, और पाखंड के ठेकेदारों के विरुद्ध महावीर ने क्रांति की, और सात्त्विक धर्म का प्रचार किया।

आत्मगुद्धि और राग-द्वेषनाग की ओर उनका प्रवृत्त उद्देश्य था। जिसका प्रभाव तत्कालीन वैदिक परम्परा पर अधिकतम पड़ा।

भारत में श्रमण और ब्राह्मण के नाम से उभयमुखी आर्यसंस्कृति का संस्मरण हुआ। जैन और बुद्ध धर्म के विचारों को श्रमण-सस्कृति वैदिक तथा वैष्णवों के सम्प्रदायों की विचारधारा को वैदिक-संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है।

वैदिक एवं जैन संस्कृतियों-समन्वयात्मक वृत्ति में परिपूर्ण

इतिहास तथा वैदिक वाङ्मय इस बात का साक्ष्य है कि वैदिकों के पास श्रमण तथा साधु-संस्था के लिए कोई सुव्यवस्थित विधान-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र उपलब्ध नहीं है। यद्यपि वीद्वों और जैनों के पास भी गृहस्थों के लिए धर्म-विधान के निवाय गृहस्थधर्म को बताने वाले धर्मग्रन्थों का अभाव है।

इसीलिए मैं समझता हूँ कि ये दोनों संस्कृतियाँ अपने आप में नहीं, अपितु-समन्वयात्मक वृत्ति में ही परिपूर्ण हैं। यदि हम वैदिक संस्कृति को पेट और चरण कह सकते हैं, तो जैन और बौद्ध संस्कृति को हृदय और मस्तिष्क कह सकते हैं।

संस्कार और श्राद्ध, कर्म और त्याग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, इन सबका मेल जीवन के क्षेत्र में यदि आवश्यक है तो वैदिक और जैन संस्कृति का भी समन्वय अत्यधिक उपयोगी है।

ऐतिहासिक भागों में यदि सचोट तर्क द्वारा इस सस्कृति के आदान-प्रदान का यथार्थ वर्णन किया जाये तो हमें कहना होगा कि साधु सस्था का विधान जैन और बौद्ध धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है, वैदिक धर्म में साधु धर्म का विधान केवल जैन आचार शास्त्र का वैदिक छायानुवाद मात्र है। जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय में गृहस्थकर्मों का सासारिक विधान वैदिक विधान का भावानुवाद मात्र है।

जैन, बौद्ध तथा वैदिक ये तीनों विचारवाराएं समुचित रूप में ही वास्तविक अनेकान्त की अजस्रप्रवाहिनी अमर धाराएं हैं। इनके सगम से भारतीय-सस्कृति का सूर्य चमका है।

यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि ये तीनों धाराएं एक दूसरे से प्रामाणिक एवं अनुप्राणित हैं। तीनों ने जी भर कर एक दूसरे से अपने पोषण तत्वों को प्राप्त किया है। कम से कम, निवृत्ति त्याग तथा साधु सस्था का नियमित रूप वैदिकों को जैन धर्म की देन है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा वैष्णवों की आहार शुद्धि और आत्मा तथा परमात्मा की एकरूपता तो वैदिक धारा को जैन धर्म की ही विरासत है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के अतिरिक्त सर्वप्रथम, भाव-यज्ञ की स्थापना की, जिससे देश के पवित्रतम ब्राह्मणों की हिंसाप्रधान यज्ञवृत्ति से रुचि हट गई।

इसी समय, राक्षसी वृत्ति को छोड़कर राजाओं ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। वैदिक गृहस्थों और ब्राह्मणों पर महावीर की अहिंसा की इतनी छाप पड़ी कि आज सैकड़ों वर्षों से याज्ञिक हिंसा देश से लोप हो गई।

सन्यासियों, त्रिदण्डियों और योगियों का अधिकाधिक ध्यान अहिंसा तथा महावीर प्रणीत श्रमण-आचार-शास्त्र पर गया। जिसके फलस्वरूप अध्ययन अथवा श्रवण द्वारा उन्होंने अपने सम्प्रदायों में वे नियम लागू किए। त्रिदण्डी सन्यासियों की क्रिया पर जैनधर्म की श्रमण-परम्परा का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप

बुद्ध और महावीर के साधुओं में सैद्धान्तिक आचार-सम्बन्धी मान्यताएं तो कितनी ही एक जैसी दीखती हैं।

जामाली और गोगालक की परम्परा ने महावीर स्वामी की श्रमण परम्परा से ही पाठ पढा था ।

सचमुच, महावीर की श्रमण-संस्था अपेक्षाकृत बहुत मुव्यवस्थित और समुन्नत थी । आज भी महावीर के साधुओं के आचार-संयम तथा तप की धूम वैज्ञानिक विश्व आश्चर्य से देख रहा है कि जैन साधु किस प्रकार इतना त्याग कर लेते हैं, और अपने जीवन का कल्याण करने में सफल होते हैं । भारतवर्ष में आज भी जैन साधुओं को जितना विश्वास तथा आदर दिया गया है, वह सब महावीर की समुचित व्यवस्था का ही वरदान है ।

तत्कालीन सकट और-साधु-संस्था — जैन साधु परम पर्यटक होता है । इसका घर वार परिवार उसके कन्धों पर रहता है । ग्राम, पिंडोलक और नगर पिंडोलक साधुओं को भगवान् ने पापी श्रमण तक कह दिया क्योंकि एक जगह अधिक ढेर निवास करना ही सयम शिथिलता का कारण बन जाता है ।

जैन श्रमण पाठ विहारी है वह दूसरे के सहारे के आधीन नहीं है । उसे तो अपने ही पैरों से समूची-भूमि, विकट अटवी तथा भयानक वनान्तर नापने पड़ते हैं । इसलिए शास्त्रों में साधु संस्था पर आए हुए घोरतम संकटों का विस्तृत वर्णन किया गया है । साथ ही, उस अपवाद-मार्ग का भी निर्देश किया गया है जिसे साधु समय-असमय पर उचित विधान के अनुसार अवलम्बन रूप में अपना सके । साधु-साधुओं के सामने मुख्य समस्या चोर-डाकुओं का उपद्रव, नदी पार करने के लिए वाहन का उपयोग, बीमारी, सर्प-विच्छु का विषैला उपद्रव मिटाने के लिए औषधोपचार, सकटकालीन स्थिति में राजसंस्था में जैन साधुओं का हस्तक्षेप, विधर्मी राजा द्वारा उठाये गये उपद्रव का निराकरण, दुर्भिक्ष के समय भिक्षा की समस्या का समाधान, धार्मिक संकट का प्रतिकार, संघ विपत्ति का निवारण आदि समस्त समस्याओं का समाधान-भगवान् महावीर ने विवेक पूर्ण आचरण करने के लिए अपवाद मार्गों का उल्लेख किया है ।

प्राचीन काल में श्रमण-संस्था का कष्ट सहन

समय की बहुत विचित्र गति है । अतएव, साधु-साधुओं के लिए ब्रह्म, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा बाध दी है । जिससे समय पड़ने पर साधु समाज सब के साथ अनुमति कर विगेष विधान भी बना सकता है, ऐसा अधिकार भगवान् महावीर ने सब को दिया है ।

यदि ऐतिहासिक गोध एवं खोज की दृष्टि से देखा जाय तो आज २५०० वर्ष पहले के पिछले जमाने में श्रमण सस्था को किन किन कष्टों का सामना करना पडा होगा, उसकी कल्पना भी नही की जा सकती ।

भयंकर वनान्तरो में होकर साधु श्रमणों को विहार करना पडता था । आवादिया दूर-दूर तथा बहुत थोडी थी । जंगल, पहाड नदी-नाले, रेगिस्तान सब में से होकर अपनी राह, आप बनानी पडती थी, किन्तु ध्यान रहे, श्रमण, ससार की बाधाओं के बीच अपनी राह स्वयं बनाने के लिए ही तो आया है । लीक-लीक पर चलना महावीर का मार्ग नही था । क्योंकि लीक पर ब्राह्मणों की याज्ञिक हिंसा और क्षत्रियों के उद्दण्ड जीवन की गहरी छाप पडी थी ।

उस काल में राज्यों की अराजकता भी साधुओं के लिए अत्यन्त कष्टकारी थी । किसी राजा के मर जाने पर, राज्य सत्ता-प्राप्ति के लिए जो बखेडे खडे होते, उनका विषैला प्रभाव साधुओं पर भी पडता और उन्हें अनेक भाति त्रास दिये जाते ।

उस समय चोर-डाकुओं के गाव के गाँव बसते थे, जिन्हे चौरपल्ली कहा जाता था । चोरों का नेता उनका नेतृत्व करता । ये चोर साधु और साध्वियों को बडा दुख देते थे ।

यदि राजा विधर्मी हुआ तो जैन-साधुओं को बडी कठिनाइयाँ उठानी पडती थी । उन्हें बहुधा गुप्तचर समझ कर पकड लिया जाता था ।

बस्ती के निकट रहने वाले साधुओं को बडी कठिनाइयाँ उठानी पडती थी । उन्हें बहुधा अपने उपाश्रय अथवा स्थानक का पहरा देना पडता था । बहुधा दुराचारिणी स्त्रियाँ अपन भ्रूण उनके निकट छोडकर चली जाती थी । चोर चोरी का माल छोडकर चले जाते थे । सर्प, बिच्छु और कुत्ते आदि से अन्य साथी संतो की निरन्तर रक्षा करनी पडती थी ।

दुष्काल की भयकरता का प्रभाव भी बहुत बुरा पडता था । पाटलिपुत्र का दुष्काल कुख्यात है, जबकि भिक्षा के अभाव में सहस्रो साधुओं को देश छोड़ना पडा था और अनेक आगम ग्रथ नष्ट हो गए थे ।

इस प्रकार के अनेकानेक कष्ट और आतक-विशेष उपस्थित होने पर साधुओं को धर्म एव देह रक्षा के लिए शरीर त्याग करने को भी बाध्य होना पडता था ।

आज के गातिमय राष्ट्रीय जीवन में जबकि सामाजिक न्याय और राज्य शासन की समुचित व्यवस्था है। किन्तु उस काल के कष्टों का अनुमान लगाना दुष्कर है, जिनकी जलती ज्वाला में जीवित निकल कर भगवान् महावीर के सहस्रो अज्ञातनाम साधुओं ने अपने धर्म और कर्तव्य का पालन किया था। वे अत्याचारी न रहे, जिन्होंने अनेक अराजकत्व काल में हमारे पूर्वज साधुओं को अमानवीय पीड़ाएँ दी थी, वे लोग न रहे, जिनके अधर्ममय शासन में जैन-साधुओं की कष्ट-कहानियां बढ़ गई थी, वे सब न रहे, पर जैनधर्म और जैन मातृ आज भी विद्यमान हैं। यह अन्याय और अधर्म पर, न्याय, धर्म और सत्य की जीत का सबूत है।

श्रमण और प्रचार

महावीर का धर्म किसी की जन्मगत, वर्ण-वर्गगत अथवा समाजगत वर्पीती नहीं है। यह तो अन्त गुद्धि पर बल देने वाली अत्यन्त वैज्ञानिक विचारधारा है, जो मनुष्य को सहज सरल तरीके से आध्यात्मिक जीवन, और लौकिक पार-लौकिक मुक्ति की ओर ले जाती है। अब, यह तो व्यक्ति और समाज की साधना पर निर्भर है, कि वह इस अमृत में से कितनी बूँदें प्राप्त कर ले।

विचार का जीवन-प्रचार आज भी पहले भी --विचार का जीवन, प्रचार है। विचार आराधने प्रचार-प्रसार के आधार पर जीवित रहती है। भगवान् महावीर के विचारों को प्रचार ने ही अक्षुण्ण रखा है। यद्यपि प्रचार उद्देश्य नहीं है, साध्य नहीं है, पर वह साधन अवश्य है।

विचार-धारा का जितना विस्तार होगा, समाज में उतना ही प्रचार होगा। विचार-विषयक जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतनी ही अनुयायी वर्ग की संख्या में वृद्धि होगी, और विचारधारा को भी जीवित रहने के लिए अनुकूल वातावरण मिलेगा। पारस्परिक सौहार्द, महयोग एव साहस का संचार होगा। महावीर सबसे बड़े प्रचारक एव दिव्य सदेग सवाहक थे। उन्होंने अपने समस्त साधुओं, श्रावकों, साध्वियों और श्राविकाओं को आह्वान किया कि "धर्म प्रचार के पवित्र-तम अनुष्ठान में यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एव परोद्धार करो!"

भगवान् महावीर धर्म प्रचारको, समाज व्यवस्थापको और अहिंसा के संवको को सदैव प्रोत्साहन देते थे। उपासक दगागसूत्र में गोशालक मत के समक्ष आर्हती विचार धारा को विजयिनी बनाने वाले कुण्डकोलिया श्रावक को भगवान् महावीर ने "धन्योऽसि कुण्डकोलियाण तुम" कहकर धन्यवाद दिया है।

शत्रु श्रावक, कामदेव तथा आनन्दादि श्रावको का विस्तृत वर्णन, गौतम स्वामी को तपस्वियों के स्वागतार्थ जाने के लिए अनुमति देना व स्कन्धक सन्यासी जो गौतम स्वामी के बाल मित्र थे उन्हें गौतम गणधर को स्वागतार्थ जाने की अनुमति देना महावीर की महानता प्रकट करते हैं।

केशीकुमार श्रमण का परदेशी को समझाने के लिए जाना, साधुओं का नगर नगर में घूमना—यह सब व्यवस्थाएँ प्रचार के लिए ही हुई थी। राजा परदेशी का जीवन और केशीकुमार श्रमण का श्वेताम्बिका जाना प्रचार वृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

धर्म के लिए आवश्यक है, प्रचार —प्रचार बिना धर्म कभी ठहर नहीं सकता। इसलिए भगवान् ने धर्म प्रभावना तथा धर्म प्रद्योत करना सम्यक्त्व के महत्वपूर्ण अंग माने हैं। दीक्षा से पहले भगवान् महावीर को नव-लोकान्तिक देवताओं ने जो प्रार्थना की है, उसमें भी आत्मकल्याण की अपेक्षा “सर्व्व जग्व जीव हियं तित्थ, पवत्तेहि” का उल्लेख आया है, अर्थात् जगत् के हित के लिए तीर्थ की प्रवर्तना करो। (आचाराग सूत्र)

विश्व के उद्धार के लिए ही अहिंसक धर्म की स्थापना की गई है। भगवान् महावीर ने उन्हें धन्य पुरुष कहा है, जो सकटों का सामना करके अहिंसा तथा आर्हतों की सस्कृति का प्रचार करते हैं।

महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था

श्रमण परम्परा को अधिक सुव्यवस्थित करने के कारण महावीर के पास एक शान्ति सेना बनाई गई जो सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में क्रांति कर सकी।

यही कारण है कि महावीर तत्कालीन बुराइयों के विरुद्ध लड़ सके। यद्यपि उनकी विचारधारा का मोड़ निवृत्ति-नामी था, तथापि विधायक विचार कम महत्वपूर्ण नहीं थे। उस काल में यज्ञों में जो हिंसा हो रही थी, उसकी अमानवीयता से समाज और प्रजा काप उठी थी। लेकिन ब्राह्मण एवं उच्चवर्ग के सम्मिलित पड्यन्त्र के फलस्वरूप किसी व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह उठ खड़ा होता और असामाजिक, अमानवीय प्रवृत्तियों के संचालकों को ललकारता। समाज एक बड़ा बदीगृह था, जहाँ वर्णाश्रम और भेद उच्चवर्गों की दया और दान पर निर्भर था। उसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं थी, क्योंकि

जाति और सम्प्रदाय के अन्यत्र व्यवित का अस्तित्व नहीं था। ऐसे अधिकारमय युग में प्रकाश की किरण के समान महावीर की महागिरा गुंजित हुई। व्यक्ति-व्यक्ति को अपना मुक्तिदाता मिला। न केवल मनुष्य, वरन् पशुओं ने भी शांति की सास ली। यज्ञ का जो घूमिल धूम्र पशुओं के लहू और मज्जा से गंधित था, अब केवल घी से पूर्ण रहने लगा।

महावीर के साधु, सेवक सेना

ज्ञान, कर्म और पाण्डित्य के दावेदारों के सिर झुक गए—यह ज्ञान पर हृदय की, कर्म पर निष्काम भावना की और पाण्डित्य पर प्रेम की विजय थी। यह मानवता की वह सर्वोच्च स्थिति थी जो मानव में तब तक चले आए दानवत्व का अन्त करती थी। याज्ञिक हिंसा क्या बढ़ हुई मानो कराल काल के काण्ड का मृत्युगीत बंद हो गया। प्रेम, शान्ति और त्याग का वातावरण मुखरित हुआ।

इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी ने तद्युगीन समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार प्रदर्शित किए। यहां तक कि भगवान् ने व्यापार में सतुलन, सत्य और अमूर्च्छा का श्रावक को व्रत दिया।

साधुओं के द्वारा महावीर स्वामी देश की आध्यात्मिक शिक्षा चाहते थे। सेवकों की एक ऐसी सेना चाहते थे जिनके जीवन का धर्म मनुष्य-मात्र को आध्यात्मिक मार्ग पर लाना हो।

अर्थतंत्र की भावी विजय से महावीर स्वामी परिचित थे। उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से यह जान लिया था कि मनुष्य धन का दास बनने वाला है और धन से दास बनाने वाला है।

इस रोग से समाज का निदान करने के लिए महावीर ने वर्गहीन अहिंसक समाज का विधान दिया। समता तो उन्होंने दी ही, साथ ही अपनी स्वल्प आवश्यकता से अधिक रखना भी पाप बतलाया। अपरिग्रह का उपदेश दिया। इसी प्रकार अणुव्रत-व्यवस्था की।

भगवान् महावीर की महाव्रतों की व्यवस्था और जीवन-मुक्ति का उद्देश्य और प्रमाद के प्रति घृणा, प्रमाणित करते हैं कि वे अकर्म में कर्म और कर्म अभाव में मुक्ति का उद्देश्य साकार करना चाहते थे।

उन्होंने भारतीय जीवन में अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा करते हुए

सकलात्मक हिंसा त्यागने पर अधिक जोर दिया है। हिंसा जीवन में होती है, पर हिंसा के क्रम से कम होने पर अहिंसा की ओर उन्मुख रहना ही भ० महावीर ने श्रावक का आदर्श उद्घोषित किया है। यदि मनुष्य इस प्रकार जीवन व्यतीत करना है तो उसका जीवन उज्ज्वल होता है, और कल्याण के निकट पहुँचना है। भगवान् महावीर ने भारत को अशुभ से शुभ की ओर व शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होने का सदेश दिया है।

उनका सदेश वाणी की अपेक्षा कर्म के रूप में अधिक था। कर्म के आधार पर दिया यह सन्देश समस्त चराचर के कल्याण-निमित्त था।

वे अहिंसा से मैत्री, सत्य से विश्वास और अचौर्य से निष्कपट और ब्रह्म-चर्य से तेज ग्रहण कर अपरिग्रह से मनुष्य को परम पुरुषार्थी बनाना चाहते थे।

भारतीय इतिहास के उन चार महापुरुषों में से, जिन्होंने आज की, सम्यता का निर्माण किया और आर्य सस्कृति की प्रतिष्ठा की उनमें, राम कृष्ण, बुद्ध और महावीर हैं।

उन्होंने भोग पर त्याग को विजेता बनाया। मनुष्य कार्य करे, परन्तु उसका उद्देश्य पवित्र हो। सम्यक् ज्ञान के लिए दृष्टि शुद्ध रखकर देखे। संसार का अध्ययन करे। वृत्तियों को शुद्ध करे। जब तक मनुष्य अपना विवेक जगा संसार पथ पर चलता रहेगा, तब तक उसके समस्त कर्म सुभाव वनते जाएंगे।

यही कारण है कि भारतीय सस्कृति अहिंसामय, पुरुषार्थमय और साहित्य जीवनमय, अथवा जीवन मुक्तिमय बन गया।

लोक भाषा का प्रश्न

लोक जीवन पर इस अमृत वाणी का अपार प्रभाव पड़ा। समाज की उच्छृंखल अव्यवस्था का अन्त आया और मनुष्य ने मनुष्य बनकर रहने का सकल्प किया। उसने अच्छा बनने का व्रत लिया।

साहित्य के विविध क्षेत्रों में मनुष्य-मन की सकाम प्रवृत्तियों को अपना बीज बोने का अवसर न मिला। इससे आध्यात्मिक साहित्य की उन्नति हुई, और जीवन सहज स्वतंत्र हुआ और बुद्धि निरामय हुई। भगवान् लोकभाषा में ही लोक-साहित्य-निर्माण देखना चाहते थे। इसी हेतु उन्होंने लोकभाषा का आश्रय लिया।

वे चाहते थे कि साहित्य कलात्मक और सुन्दर बनाने वाला हो।

सहावीर की परम्परा की रक्षा

भगवान् महावीर ने बुराई और अविवेक के विरुद्ध जो आग मुलगाई थी उसे निरन्तर जलाए रखने वाले और उसकी चिनगारियों को नभालने वाले उन बुराइयों और अविवेक को नष्ट न कर सके अपितु अविवेक उन्हें नष्ट कर गया। जिस जड़वाद, जातिवाद और पूजावाद के विरुद्ध महावीर उठे थे, वही जैनियों में घर कर गया।

अन्नती एवं अप्रत्याख्यानी का जैनधर्म में स्थान नहीं था, न है, लेकिन वे ही व्रतभ्रष्ट जाति से जैन कहलाने लगे। आज महावीर-परम्परा की रक्षा करने की सर्वाधिक आवश्यकता उठ खड़ी हुई है। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और प्रेम के मार्ग से जातीय जीवन विचलित हो गया है। उसे अपने मार्ग और अपनी गति पर लाना है। भगवान् महावीर की परम्परा ही उसे जीवित रख सकती है।

विश्व के नाम महावीर का संदेश

भगवान् ने अहिंसा को मुक्ति स्वरूपिणी माना है। प्रेम और अहिंसा का उनका दिव्य सन्देश पिछले २५०० वर्षों से विश्व की सत्रस्त मानवता को शांति देता रहा है, लेकिन आज जब देश और विदेश की सीमाएँ टूट गईं और मनुष्य ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है, उसकी समस्या और देश की सीमाएँ बहुत बृहद् रूप ले चुकी हैं। संसार प्रतिपल संकटापन्न स्थिति से घिरा रहता है, क्योंकि भारत जैसे अहिंसक देशों की कमी है, और कतिपय देश युद्ध और हिंसा में ही मानव-जाति का कल्याण देख रहे हैं।

लेकिन, महावीर का मार्ग अपना कर मानव जाति एक दिव्य शांति को प्राप्त करेगी जो अहिंसा का सम्बल बनेगी, और अहिंसा, सतप्त संसार को अपने शासन में लायेगी। यह शासन आत्मशासन होगा और ऐसे शासन में मनुष्य अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जिएगा।

तब महावीर का सन्देश--अन्तर्राष्ट्रीय समाज रचना का, विश्व-पार्लियामेंट का, विश्व-साकार का यंत्र, तंत्र और मंत्र बनेगा।

और वह दिन दूर नहीं है, क्योंकि मनुष्यता अपनी विषमताओं और विडम्बनाओं से परित्राण पाने को बद्ध-परिकर हो, खड़ी है।

शिष्य-परम्परा

भगवान् महावीर के सर्वज्येष्ठ शिष्य यद्यपि गणधर इन्द्रभूति थे, मगर भगवान् के निर्वाण के साथ ही वे केवली हो चुके थे, अतएव सर्वप्रथम सघ के आचार्य की उपाधि प्राप्त करने का श्रेय पाचवे गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को मिला। इन सुधर्मा स्वामी से ही श्रुत की परम्परा जारी हुई। सौ वर्ष की उम्र में इन्हें भी निर्वाण प्राप्त हो गया।

सुधर्मा स्वामी के पश्चात् जम्बू स्वामी दूसरे आचार्य हुए। यह अन्तिम केवली हुए। इनके बाद इस क्षेत्र में फिर किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं हुई।

जम्बू स्वामी के पश्चात् तीसरे आचार्य प्रभव स्वामी थे। पहले वह पाच सौ चोरो के सरदार थे। दूसरे दिन प्रभात में मुनि दीक्षा लेने को उद्यत जम्बू कुमार के घर चोरी करने गये। अकस्मात् जम्बू कुमार से साक्षात्कार हो गया और वह भी वैरागी बन कर दीक्षित हो गए। आखिर वही उनके उत्तराधिकारी हुए।

जम्बू स्वामी तक दिगम्बर-श्वेताम्बर-परम्परा का एक रूप है। उनके पश्चात् दोनो परम्पराओं में भेद हो गया है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रभव, स्वयम्भव, यशोभद्र, सभूति विजय और भद्रवाहु का उल्लेख है, तो दिगम्बर परम्परा में, विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रवाहु के नाम मिलते हैं।

प्रतीत होता है, कि जम्बू स्वामी के पश्चात् ही सघ की एकता शिथिल होने लगी थी, फिर भी मतभेद ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। यही कारण है कि दोनो परम्पराएँ भद्रवाहु स्वामी को श्रुतकेवली स्वीकार करती हैं।

भद्रवाहु स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। उन्होंने वीरनिर्वाण स० १३६ के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के पास दीक्षा अर्गीकार की। दीक्षा के समय उनकी उम्र ५३ वर्ष की थी। इस उम्र में दीक्षित होकर भी उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। १४ वर्ष तक अखण्ड वीरसघ के आचार्य रहे। ६६ वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया।

उनके समय की प्रसिद्ध घटना द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष है, जिसके कारण वे दक्षिण में चले गये। इस दुर्भिक्ष का सघ पर गहरा और स्थायी प्रभाव पडा।

सघ छिन्न-भिन्न हो गया, श्रुति परम्परा से चलने वाले श्रुत का बहुत सा भाग विच्छिन्न हो गया । बड़े-बड़े श्रुतधर, अनेक साधु, काल के गाल में समा गये ।

भद्रवाहु स्वामी ने दश आगमों पर निर्भूक्ति रची, ऐमा जैन परम्परा में प्रसिद्ध है । इसके पश्चात् कोई श्रुतकेवली अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतधर नहीं हुआ, तथापि दोनों परम्पराओं में अनेक प्रभावशाली, अव्यात्मनिष्ठ, सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता, संयम परायण और प्रभावक आचार्यों का क्रम चलना रहा है, जिसमें से कुछ का परिचय साहित्य के प्रकरण में दिया जायगा । शेष आचार्यों के परिचय के लिए ऐतिहासिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए ।

गुणेहि साहू अगुणेऽहि साहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू ।

द्वियाणिश अप्पगमप्पणं, जो राग दोसेहि, समो स पुज्जो ॥

गुणों से साधु होता है, और अगुणों से असाधु । सद्गुणों को ग्रहण करो, और दुर्गुणों को छोड़ो । जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष में समभाव रखता है, वह पूज्य है ।

सद्वं नगरं किच्चा, तव संवर मगलं ।
खंति निउण पागारं, तिगुत्तं दुप्पघंसयं ॥

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं चाईरियं सया ।
धिइंच केयणं किच्चा, सच्चेण परिसंथए ॥
तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्म कंचुयं ।
मुणी विगय संगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ९, गा० २०-२२ ।

ओ साधक !

श्रद्धा को नगर बनाकर, तप सवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमशः बुर्ज, खाई तथा शत-धिनियों की सुरक्षापक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ । और पराक्रम के घनुण्य पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यचा चढा कर, धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खीच कर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कच्चुक कवच को भेदन कर दो, जिससे संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो ।

मुक्ति-मार्ग

मुक्ति मार्ग

“बुद्धिश्च जति ति उट्टिज्जा,
बंधणं परिजाणिया ।”

—सूयगडागसुत्त ।

जैनधर्म आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करता है, जिससे आत्मा अपने बन्धनो को सदा के लिए तोड़ देता है। और अपनी अनन्त असीम नैसर्गिक शक्तियों का परिपूर्ण विकास करके शाश्वत सिद्धि का लाभ करता है।

महावीर कहते हैं—“गौतम ! जो जानता है, वही बन्धनो को तोड़ता है। ज्ञान की सार्थकता अन्धकार को दूर करके आलोक को प्राप्त करना है और चारित्र धर्म की आवश्यकता उस आलोक में दृष्टिगोचर होने वाले दोषो को दूर कर आलोकित स्थान को स्वच्छ एवं पावन बनाना है।”

जैनधर्म के अनुसार, जिससे तत्व का यथार्थ बोध मिलता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जिससे तत्त्वार्थ पर अडिग अडोल विश्वास प्राप्त होता है, उस दृढ़ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और जिस आचारप्रणालिका के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों को नियंत्रित किया जाता है, जीवन के अन्तरंग और बहिरंग को स्वस्थ एवं सशुद्ध रक्खा जाता है, ऐसी दोषनिर्नाशिनी पद्धति और गुणविकासिनी पद्धति सम्यक् चारित्र कहलाती है। यही जैनधर्म की

परमपावनी त्रिवेणी है। जिसमें स्नान करने वाला साधक निर्मल, निर्विकार और निष्कलुष बन जाता है।

जीवन शोधन और मुक्ति लाभ के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने वाले साधक के जीवन में ज्ञान, आलोक, परमसत्य की श्रद्धा एवं इन दोनों से प्रेरित प्रवृत्ति, व्यवस्थित रूप से कार्य करती है, जो इस त्रिपुटी^१ का अवलम्बन लेता है, वही ससार में सच्चा आध्यात्मिक यात्री है, मुमुक्षु है और वही अन्त में चरमसीमा का आत्मविकास प्राप्त कर सकता है।

आर्यावर्त के सभी आस्तिक धर्मों का उद्देश्य अन्ततः मुक्तिलाभ^२ करना है, फिर चाहे उसे परमतत्त्व की उपलब्धि कहा जाय, चरमपुरुषार्थ की प्राप्ति कहा जाय, मुक्ति या सिद्धि कहा जाय अथवा ब्रह्मलाभ आदि कुछ और कहा जाय। जैनधर्म प्रत्येक आत्मा में ईश्वरीय गुणों की सत्ता को दृढतापूर्वक स्वीकार करता है, और उन गुणों की स्वाभाविक अभिव्यजना को ही मुक्ति या सिद्धि मानता है। सिद्धिलाभ के लिए वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की त्रिपुटी की अनिवार्यता स्वीकार करता है और स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि ज्ञान विहीन^३ कोई भी कर्मकाण्ड क्रियाकलाप तप, जप, काम-क्लेग, देहदमन आदि जैसे उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान से भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। परमात्मदशा प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग तीनों का जीवन में समन्वय होना ही है।

वस्तुतः ज्ञान और विश्वास का सार श्रद्धाचार है। मानव-जीवन में चारित्र्य का सर्वाधिक महत्व है। जीवन की ऊर्चाई उसके कोरे ज्ञान या विश्वास से नहीं आकी जा सकती। दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का मुख्य माप-दण्ड चारित्र्य ही है। यही क्यों, दैनिक जीवन व्यवहार में भी हम देखते हैं कि विश्वास और ज्ञान जब तक मनुष्य के जीवन में साकार नहीं हो जाते तब तक मनुष्य किसी भी सांसारिक उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

संसार एक अनन्त अविराम प्रवाह है, तो क्या जीव उसमें पाषाणखंड को भाँति बहता लुढ़कता और टक्करे खाता ही रहेगा? क्या मानव को इस

१ त्रिविधे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा, नाण सम्मे, दसण सम्मे चारित्तसम्मे।

—स्थानांग, स्था० ३, उ० ४, सू० १९४

२ निब्बाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा, —सूत्रकृतांग, अ० ६, गा०

३ नाणेन विनातं हुंतिचरण गुणा, —उत्तराध्ययनं, अ० २८, गा०

ससार में चलना ही है ? उसकी गति का कहीं विराम नहीं है ? कोई आश्रय-स्थल नहीं, कोई मंजिल नहीं ? अगर ऐसा हो और मनुष्य की गति की कहीं और कभी विश्रान्ति न हो, तो फिर मुमुक्षु की साधना का उद्देश्य ही कुछ न होगा। उसका सदाचार, विश्वास और तत्त्वज्ञान—सब व्यर्थ हो जायेंगे। मगर नहीं। जैनधर्म का कथन है—“अवश्य आत्मा को कर्मों के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होगी। इस क्षणिक जीवन के बदले शाश्वत जीवन का लाभ होगा और ससार के निस्सार एवं दुःख व सुख से ऊपर उठकर अवश्य आत्मा को अनन्त सुखमय मुक्ति का दर्शन होगा। आत्मदर्शन एव सहजस्वरूप की उपलब्धि ही सम्यक् चारित्र्य का वह शुभ फल है, जिसे मनुष्य अपने प्राप्य अन्तिम साध्य तथा लक्ष्य को सुनिश्चित रीति से प्राप्त कर लेता है।

जैनतत्त्वज्ञान की यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि वह जीवन को बुझे दीपक की तरह शून्य में परिणत नहीं करता, किसी विराट् सत्ता में आत्मा का विलीनीकरण करके उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्तहीन बनाकर पापाण की भाँति जड़ नहीं बनाता। जैनधर्म के अनुसार आत्मा की अन्तिम स्थिति अनन्त सुख-सवेदन से परिपूर्ण और असीम ज्ञान के आलोक से सम्पन्न है। उस स्थिति में आत्मा की दिव्य शक्तियाँ निखर उठती हैं, और वह परम ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त करता है।

उस परमसुखमय मुक्ति का जो राजपथ^१ जैन धर्म ने निर्दिष्ट किया है, वह है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य का समन्वय। यह रत्नत्रय ही उस शाश्वत सगीत का आरोह बनता है, जो गायक को सदा के लिए मुक्ति में प्रतिष्ठित कर देता है।

सम्यग्दर्शन

जैनधर्म ज्ञान को साध्य रूप में स्वीकार नहीं करता। ज्ञान का फल विज्ञान अर्थात् हेय-उपादेय का विवेक है, और विज्ञान का फल बुराई को छोड़कर अच्छाई को स्वीकार करना है। ज्ञान का उपयोग श्रद्धा की स्वच्छता के लिए है, और श्रद्धा का अटूट बल जीवन बोधन के लिए है। अतः ज्ञान की यथार्थता पर जितना बल दिया गया है, उतना ही उसकी सच्ची श्रद्धा पर भी दिया गया है।

१ “जीवागच्छन्ति सौगर्ह,” —उत्तराध्ययन अ० २८, गा० १-३।

आत्मा ^१ पर और साथ ही अन्य तथ्य भावों पर—वस्तुजगत पर सजीव श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन ^२ को बहुत महत्व दिया गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव में विपुल और सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान भी अज्ञान ही रहता है और उग्र से उग्र अनुष्ठान भी मिथ्यानुष्ठान होता है ^३ जानाभूति के पीछे यदि अटूट विश्वास, जीवित श्रद्धा या दृढ़ प्रतीति न हुई तो ज्ञान कदापि हितावह नहीं हो सकता।

आत्मा की स्वरूपच्युति का प्रधान कारण सम्यग्दर्शन का अभाव है। श्रद्धा के बिना न तो अपने स्वरूप पर, और न अपने स्वाधिकार की मर्यादा पर, दृढ़ प्रतीति होती है, और न ससार के अनन्त-अनन्त जड-चेतन द्रव्यों के स्वतन्त्र अस्तित्व पर ही विश्वास होता है। उस अविश्वासी और मिथ्यादर्शी आत्मा की यही भावना रहती है कि समूचा ससार मेरे इशारे पर नाचे, मेरी सत्ता स्वीकार करे और मेरे शासन का कोई भी उल्लंघन न करे। इस विषाक्त दृष्टि से आत्मा को ही भ्रम में नहीं डाल दिया है, वरन् विश्व की शान्ति का भी विध्वंस किया है। दृष्टि की इस विमूढता का कारण तत्त्व को यथार्थ रूप में न समझना और उस पर विश्वास न करना ही है।

जगत् में जो सत् है, उसका कभी विनाश नहीं होता है, और जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जितने भी मौलिक द्रव्य इस लोक में विद्यमान हैं, वे सब अपने अपने मूल स्वरूप में स्थिर रहते हैं। एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं बनता, किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादिकालीन पर्याय-धारा में प्रवाहित हो रहा है, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का रूपान्तर होता है, मगर द्रव्यान्तर नहीं होता।

मूल द्रव्य^४ छह हैं और तत्त्व नौ^५ हैं। अनेकान्त दृष्टि ही इन द्रव्यों या तत्त्वों को समझने की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

१ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० १५

२ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० ३०

३ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० २८

४ अनुयोगद्वार सूत्र १४१-१२४।

५ स्थानाग सूत्र, स्था० ९ सूत्र।

वीतराग कथित आगम इन्हे समझने का अभ्रान्त साधन है। इस प्रकार के जीवन्त विश्वास को तत्त्वश्रद्धा कहते हैं।

तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दर्शन^१ है। सम्यग्दर्शन कभी-कभी आन्तरिक शुद्धि से स्वतः प्राप्त हो जाता है, और कभी-कभी सत्सगति से, या परोपदेश से प्राप्त होता है। शास्त्र में इनको क्रमशः निसर्गज और अधिगमज सज्ञा प्रदान की गई है।

सम्यग्दर्शन का विरोधी गुण मिथ्यात्व है। जो श्रद्धा विपरीत है, सत्य-विरुद्ध है, वह मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन है। देव, गुरु और धर्म के विषय में भ्रमपूर्ण या विपरीत धारणा बनाने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अज्ञानवश यह समझने में असमर्थ हो जाता है कि आराध्य देव कैसा पावन, पवित्र, सम्पूर्ण ज्ञानमय और सर्वथा निर्विकार होना चाहिए? इस तथ्य को न समझने के कारण वह मिथ्यात्व के चक्कर में फँस जाता है।

शास्त्र के ठीक अभिप्राय को न समझने के कारण अथवा कुशास्त्र के स्वाध्याय से शास्त्रीय मिथ्यात्व आता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी होगी कि बहुत कुछ पाठक की दृष्टि पर शास्त्र का सम्यक्-मिथ्यात्व निर्भर करता है। जिसकी दृष्टि निर्मल है, जो सम्यग्दर्शी है, वह मिथ्याश्रुत को भी अनैकान्त पद्धति से सगत बनाकर सम्यक्-श्रुत^२ के रूप में परिणत कर लेता है। इसके विपरीत, भ्रान्त धारणाओं से ग्रस्त मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर मिथ्याश्रुत बना डालती है^३।

असत् गुरु के कारण भी ससार में मिथ्यात्व फैलता है। मनुष्य गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना ही वेष, चमत्कार, या वाक्कौशल को देखकर किसी को गुरु मान लेता है। इससे वह गुरु के विषय में मिथ्यात्वी रह जाता है।

मनुष्य धर्म के विषय में यथार्थ को समझे बिना, परम्परागत धर्म-विरुद्ध रूढ़ियों को धर्म समझ लेता है। वह उसे कुलाचार, या ऐसा ही कुछ नाम देकर मानता है और मिथ्यात्व का शिकार बनता है।

जैनधर्म का आदेश है कि मनुष्य को इस प्रकार विपर्यय से बचकर और दुराग्रह का परित्याग करके देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जो आत्मा प्रकृष्ट साधना के द्वारा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, एवं अनन्तशक्तिशाली बन गया है, जिसने मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह आदि अनेक प्रकार के विकारों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली है, जो शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर चुका है, वह सच्चा देव है। वही अर्हन्त परमात्मा कहलाता है। अर्हन्त को देव मानने की श्रद्धा, देव के प्रति सच्ची श्रद्धा कहलाती है।

जिस महात्मा के जीवन में अहिंसा की सुगंध महकती है, जो अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, जो पांच महाव्रतों द्वारा मुक्ति की अनवरत साधना करता है, और जो विश्व के समस्त जीवों का कल्याण चाहता है, वह सच्चा गुरु है।

आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला, तथा तत्व का यथार्थ ज्ञान कराने वाला वीतराग कथित श्रुत, एवं मुक्ति प्राप्त कराने वाला चारित्र्य, धर्म माना गया है^१।

दयामय धर्म और अनेकान्तमय तत्व ही यथार्थ है। अहिंसा ही समग्र सदाचार की कसौटी है। इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन का मूल आधार है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के विचार सुलझे हुए होते हैं। उसमें कदाग्रह तथा मताग्रह नहीं होता। वह सत्य को सर्वोपरि मानता है और सत्य की ही उपासना करता है। विनम्रभाव से वह सत्य के प्रति समर्पित है। सत्य पर उसकी अविचल आस्था है। दानवी शक्ति भी उसे सत्य से, धर्म या अखण्ड आत्म-विश्वास से विचलित नहीं कर सकती।

सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मस्वरूप की ज्ञाकी मिल जाती है। वह अनन्त आत्मिक आनन्द से परिचित हो जाता है। अतएव भौतिक सुख उसे रुचिकर प्रतीति नहीं होते। वह भोग भोगता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने के लिए पाच^२ दोषों से वचना चाहिए.—

१. गंका, वीतराग के वचन पर अविश्वास।
२. काक्षा, परधर्म को अगीकार करने की इच्छा।
३. धर्म के फल में सदेह करना या सती के प्रति ग्लानिभाव रखना

१. ठाणंग सूत्र, ठाणा २, उ० १, सू० ७२।

२. उपासक दशांग अ० १,

- ४ मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, और
५. मिथ्यादृष्टियों का घनिष्ठ परिचय ।

मुक्ति की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास आरम्भ होता है । यह स्वाभाविक है कि जब तक लक्ष्य शुद्ध न हो, और दृष्टि निर्दोष न बन जाय, तब तक मनुष्य की सारी जानकारी और उसके आधार पर किया जाने वाला प्रयास, सफल नहीं होता । इसी के कारण सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है ।

जब अन्तःकरण में सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकाशमान होती है तो अनादिकालीन अन्धकार सहसा विलीन हो जाता है, और समग्र तत्त्व अपने वास्तविक रूप में उद्भासित होने लगते हैं । तभी आत्मा के प्रति प्रगाढ रुचि का आविर्भाव होता है, और सासारिक भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं । यह शुद्ध-दृष्टि के लिए मुक्ति का द्वार खोल देती है ।

सम्यग्दृष्टि जीवन में प्रशम, सवेग, निर्वेद (विरक्ति), अनुकम्पा और आस्तिक्य की पचपुटी भावना आविर्भूत हो जाती है । वह सब प्रकार की मूढताओं से ऊपर उठ जाता है । और शुद्ध मुक्तिमार्ग को पहचान लेता है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जैसे शरीर अपने अगोपागो में समाहित है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अपने अगो में समाहित है । सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, और उनका स्वरूप समझने से सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में आ जाता है । उन अगो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ नि शक्ति^१ वीतराग और सर्वज्ञ परमात्मा के वचन कदापि मिथ्या नहीं हो सकते । कषाय अथवा अज्ञान के कारण ही मिथ्या भाषण होता है । जो निष्कषाय, वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण पूर्णज्ञानी है, उनके वचन सत्य ही होते हैं । इस प्रकार वीतराग वचन पर दृढ श्रद्धा होना, नि शक्ति अंग है ।

२ नि काक्षित — किसी प्रकार के प्रलोभन में पडकर परमत की अथवा सासारिक सुखों की अभिलाषा करना, काक्षा है । काक्षा न होना, नि काक्षित धर्म है ।

१. "निस्संकीय"

—उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ३६

३ निर्विचिकित्सा —मनि जन देह मे स्थित होकर भी देह सम्बन्धी वासना से अतीत होते है। अतएव वे देह का सस्कार नही करते। उनके मलिन तन को देखकर ग्लानि न करना एव धर्म के फल मे सन्देह करना, निर्विचिकित्सा अंग है।

४ अमूढदृष्टित्व —सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक विचारणा और प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है, उसने अपने जीवन का जो प्रशस्त लक्ष्य नियत कर लिया है, उसकी ओर आगे बढ़ने मे सहायक विचार और व्यवहार को ही वह अपनाता है। किसी का अधानुकरण वह नही करता। सोच विचार कर प्रत्येक कार्य करता है। जिससे सघ को लाभ हो, आत्मा उज्ज्वल हो और दूसरो के समक्ष स्पृहणीय आदर्श खडा हो, ऐसी ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अपनी प्रजा को जागृत रखना और प्रमादग्रस्त न होने देना ही अमूढदृष्टित्व अंग है।

५. उपवृ हण —जो गुणी जन है, विशिष्ट जानवान्, मंयमी, धर्म-प्रभावक, समाजसेवक अथवा सम्यग्दर्शी है, उनकी समुचित सराहना करना, उनके उत्साह की वृद्धि करना, यथाशक्ति सहयोग देना, और उन्हें बढावा देकर अग्रसर करना उपवृ हण अंग है।

६. स्थिरीकरण —सासारिक कष्टो मे पडकर, प्रलोभन के वशीभूत होकर, या किसी अन्य प्रकार से वाधित होकर जो सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व से च्युत होने वाला है अथवा चारित्र से भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करके या भ्रष्ट होने के निमित्त हटाकर, पुन. उसे स्थिर करना स्थिरीकरण अंग है।

७ वात्सल्य —ससार सम्बन्धी नातेदारियो मे साधर्मीपन की नातेदारी सर्वोच्च है। अन्यान्य रिश्ते मोह-वर्धक है, किन्तु साधर्मीपन का सम्बन्ध अप्रगस्त राग को दूर करने वाला और प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। ऐसा समझ कर सहधर्मी के प्रति उसी प्रकार आन्तरिक स्नेह रखना, जैसे गाय अपने बछडे पर रखती है, वात्सल्य अंग कहलाता है।

८ प्रभावना —जगत मे वीतराग के मार्ग का प्रभाव फैलाना, धर्म सम्बन्धी भ्रम को दूर करना, और धर्म की महत्ता स्थापित करना प्रभावना अंग है।

प्रत्येक व्यक्ति मे किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। किसी मे विद्याबल तो किसी मे चारित्रबल, किसी मे त्यागबल,

तो किसी में तपोबल, किसी में वाक्शक्ति, तो किसी में लेखन शक्ति होती है। जिसमें जो शक्ति हो उसी के द्वारा धर्मशासन का प्रभाव बढ़ाना सम्यग्दृष्टि अपना कर्त्तव्य मानता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अंगों का भलीभाँति पालन करने वाला पुरुष ही सम्यग्दृष्टि के पद का अधिकारी होता है।



पुरिसा ! तुममेव तुमं-मित्तं, कि वहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

आ० ३।३ . ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्र की खोज करता है ?
हे पुरुष अपनी आत्मा को वश में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुखों से मुक्त
होगा।



न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणु सासणं ।
विसण्ण पाव कम्मोहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ६, गा० ११ ।

पहावंतं निगिण्हामि सुयरस्सी समाहियं ।
न मे गच्छई उम्मगं मगं च पडिवज्जई ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २, गा० ५६ ।

हे साधक !

नाना प्रकार की भाषाओं का विज्ञान जीव को दुर्गत में पडने से नहीं रोक सकता । जो पाप कर्मों में निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते हैं ऐसे मूर्ख मनुष्यों को भला विद्यार्थियों का शिक्षण कहाँ तक सरक्षण दे सकेगा ?

हे साधक ! सद्ज्ञान वह है जो भागते हुए मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम द्वारा अच्छी प्रकार नियंत्रित कर ले, इससे साधक तेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जा सकेगा, और ठीक मार्ग को ग्रहण कर सकेगा ।

सम्यग्ज्ञान



स्वप्नज्ञान

१. स्वरूप :—जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। वह आत्मा का स्वाभाविक गुण है और इसलिए आत्मा से अभिन्न है। यद्यपि आत्मा और ज्ञान में गुणी-गुण संबंध है, तथापि गुणी और गुण में जैन-दर्शन भेद नहीं मानता। अतएव आत्मा ज्ञानमय है। उस में अनन्त ज्ञानशक्ति स्वभाव से ही विद्यमान है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण ज्ञान का पूर्ण प्रकाश नहीं होता। ज्यो-ज्यो आवरण हटता जाता है, ज्ञान प्रकाश बढ़ता जाता है। जब आवरण पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तो आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट हो जाता है।

कोई भी ज्ञान नेत्र की भाँति केवल परप्रकाशक नहीं होता, और न स्वप्रकाशक ही^१। जैनधर्म ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी में एकान्ततः पार्थक्य स्वीकार नहीं करता। आत्मा ज्ञाता तो है ही, अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है, और स्वयं प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण ज्ञेय भी है। इसी प्रकार ज्ञान वस्तु के बोध में कारण होने से ज्ञान है, और स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है, और कर्तृत्व की विवक्षा से ज्ञान भी है।

१ "स्व पर प्रकाशकं ज्ञानम्", (जैनन्याय तर्क संग्रह)

२. ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता :—यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान और अयथार्थ बोध मिथ्याज्ञान कहलाता है ^१ । यथार्थता और अयथार्थता से क्या अभिप्राय है ? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है—लौकिक अर्थात् दार्शनिक दृष्टिकोण से, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ।

जिस ज्ञान में सशय, विपर्यास अनव्यवसाय न हो, वह ज्ञान दार्शनिक दृष्टिकोण से यथार्थ माना जाता है ^२ । किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वही ज्ञान यथार्थ हो सकता है जिस के पीछे मिथ्यात्व न हो । मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन, ज्ञान को मिथ्या बना देता है । जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति हो चुकी है, जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी है, उसका ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है ।

इसके विपरीत जो ज्ञान सशय आदि समारोपो से युक्त है, अर्थात् जो संशययुक्त है, सर्प को रस्सी समझने के समान विपरीत बोध रूप है या अनिर्णायक है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण से अयथार्थ है, और जिस ज्ञान के पीछे मिथ्यात्व है, दुराग्रह है, दुरभिनिवेश है, आध्यात्मिक जागृति नहीं है, और लक्ष्य की पवित्रता नहीं, वह आध्यात्मिक दृष्टि से अयथार्थ है ।

३. ज्ञान के भेद :—ज्ञान सामान्य रूप से एक है, फिर भी उसे विविध प्रकार से भेद-प्रभेद करके समझाने का प्रयत्न किया गया है । ज्ञान की तरतम अवस्थाओं, कारणों एवं विषय आदि के आधार पर यह भेद-प्रभेद किये गये हैं ।

मूलतः ज्ञान पाच प्रकार का है —

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मन पर्यवज्ञान
५. केवलज्ञान ^३

४. ज्ञान की प्रत्यक्ष परोक्षता —इन पाच ज्ञानों में से पहले के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, और अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । इतर भारतीय दर्शन साधारणतया इन्द्रियो द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं ।

१.—२. द्रव्य संग्रह ।

२. स्थानांग, सूत्र, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१ ।

३. नन्दी सत्र

नेत्रों से रूप को देखना, नासिका से गंध का ज्ञान होना, जिह्वा से रस का, त्वचा से शीतोष्ण आदि स्पर्शों का, और कान से शब्द का ज्ञान होना, उनके मन्तव्य के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु जैनदर्शन इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानता। जैनदर्शन के अनुसार वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान वह है, जो इन्द्रियो और मन की सहायता की अपेक्षा न रख कर साक्षात् आत्मा से ही होता है। हा, लोक व्यवहार के अनुरोध से इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, किन्तु वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है, पारमार्थिक नहीं।

५ मतिज्ञान के भेद —मतिज्ञान कारणभेद से दो प्रकार का है— इन्द्रियजन्य और मनोजन्य।^१ चक्षु आदि इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान इन्द्रियजन्य कहलाता है और मन से होने वाला मनोजन्य। मन आन्तरिक कारण है और रूप आदि किसी एक ही विषय आदि को ग्रहण नहीं करता, इस कारण उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। मतिज्ञान सामान्यरूप से एक होने पर भी विषय-भेद से पांच प्रकार का माना गया है^२।

१ मति, २ स्मृति, ३ संज्ञा, ४ चिन्ता, ५ अभिनिबोध।

मति—वह ज्ञान है, जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हो, तथा वर्तमान-विषयक हो।

स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण करना। पूर्वजन्मों का स्मरण इसी के अन्तर्गत है।

संज्ञा—पूर्वानुभूत और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु में एकत्व या सादृश्य का अनुसंधान करना। इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान भी है।

चिन्ता—भविष्य की विचारणा।

अभिनिबोध—अनुमान।

६ ज्ञान का क्रम विकास—चेतना जीव का ज्ञानरूप गुण है, और मूल में वह एक है। कही विषय के आधार पर और कही कारणों के आधार पर, अनेक भेद-प्रभेद करके उसकी सीमासा की गई है। ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहले पहल इतना सामान्य होता है कि वह वस्तु के विशेष धर्मों को नहीं

१ स्थानांगसूत्र स्थान २ उ० १, सू० ७१।

२ नन्दी सूत्र, मतिज्ञान, गा० ८०, तत्त्वार्थसूत्र, १-१३।

जान सकता। वह सत्ता मात्र का ग्राहक होता है, जिसकी सत्ता को वह ग्रहण करता है, उसके नाम, गुण, क्रिया, जाति आदि विशेष धर्मों के जानने में असमर्थ होता है। उपयोग की यह प्राथमिक अवस्था दर्शन कहलाती है^१। दर्शन के पश्चात् उपयोग की धारा अग्रसर होती है। उस समय भी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उन सूक्ष्म अवस्थाओं का भी जैन-शास्त्रों में दिग्दर्शन कराया गया है। पर यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर चार स्थूल अवस्थाओं का ही वर्णन कर देना पर्याप्त होगा वे चार अवस्थाएँ ये हैं.—

१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय और ४ धारणा^२

दर्शन में सत्ता नामक महासामान्य (परसामान्य) का बोध हो पाया था, 'कुछ है,' इतनी-सी प्रतीति हुई थी। उसके अनन्तर जब उपयोग ने अपरसामान्य (मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य) को ग्रहण किया और 'यह मनुष्य है,' ऐसी प्रतीति हुई तो वह उपयोग अवग्रह कहलाया। अपरसामान्य को जान लेने के बाद उपयोग का झुकाव विशेष की ओर होता है। वह झुकाव ईहा कहलाता है। ईहा विशेष की विचारणा है। इस विचारणा के पश्चात् जब ज्ञान विशेष का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है तो वह अवाय या अपाय कहलाता है।

अवाय के पश्चात् धारणाज्ञान होता है। उसके तीन रूप हैं—अविच्युति, वासना और स्मृति। इनके उत्पन्न होने के पश्चात् अवाय ज्ञान जितने काल तक स्थिर रहता है, अर्थात् उपयोग पलटता नहीं है, वह अविच्युति कहलाता है। उपयोग पलट जाने पर पूर्ववर्ती ज्ञान संस्कार का रूप ग्रहण करता है तो वासना कहलाता है। कालान्तर में कोई निमित्त पाकर वासना का पुनः जागृत हो जाना स्मृति है।

इस प्रकार एक ही ज्ञान की धारा क्रम से विकसित होती हुई अनेक नामों से अभिहित होती है। विकास-क्रम के आधार पर ही उसके पूर्वोक्त चार भेद किये गये हैं।

ये चारो ज्ञान पांच इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं। इस प्रकार कारण

१ द्रव्यसंग्रह, गा० ४३।

२. नदीसूत्र २७, तत्त्वार्थसूत्र, १-१५

के आधार पर अवग्रह आदि चारों के छह-छह भेद होते हैं और सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं ।^१

यहाँ एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है । मन और पाच इन्द्रियाँ ये ज्ञान के छह साधन दो वर्गों में विभक्त हैं, पहले वर्ग में चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, जो अपने अपने विषय का स्पर्श करके उसे जानती हैं । दूसरे वर्ग में मन और चक्षु-इन्द्रिय हैं, जो अपने विषय को स्पर्श किये बिना, दूर से ही जानती हैं ।

इस भेद के कारण ज्ञान के क्रम में भी भिन्नता होती है । उस क्रमभेद को मन्दक्रम और पटुक्रम कहते हैं । मन और नेत्र पटुक्रम वाले, और चार इन्द्रियाँ मन्दक्रम वाली हैं । स्पर्शेन्द्रिय के साथ जब तक वायु का स्पर्श न हो, वह वायु को नहीं जान सकता । जिह्वा के साथ पदार्थ का सयोग होने पर ही रस का ज्ञान होता है । इसी प्रकार गंध के पुद्गलो का नासिका के साथ और भाषाद्रव्यो का कर्णेन्द्रिय के साथ स्पर्श होना अनिवार्य है । तभी उनका ज्ञान होता है ।

इन्द्रिय और विषय का यह सवध व्यंजन कहलाता है । अवग्रह ज्ञान का कारण होने से चार प्रकार का यह व्यंजन भी अवग्रह ही कहलाता है । पूर्वोक्त चौबीस भेदों में इन चार भेदों को सम्मिलित कर दिया जाय तो मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं ।

७ श्रुत ज्ञान — सामान्यतः श्रुत का अर्थ है—‘सुना हुआ’ । वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द को सुनकर श्रोता को वाच्य—वाचकभाव सवध की सहायता से जो शब्दबोध होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है । इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना अनिवार्य है । ज्ञान के द्वारा श्रोता को शब्दों का जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है । तदनन्तर उस शब्द के द्वारा शब्द के वाक्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है ।

८ मति-श्रुत का अन्तर — इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कार्य-कारण का सवध है । मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है । मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं होता । यद्यपि दोनों ज्ञान साथी हैं, परीक्षक हैं, तथापि उनमें भिन्नता है । मतिज्ञान मूक और श्रुतज्ञान मुखर है । मतिज्ञान

प्राय वर्तमान विषय का ग्राहक है, जब कि श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक होता है। उदाहरण की भाषा में यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान यदि बूध है, तो श्रुतज्ञान खीर है। मतिज्ञान सण है तो, श्रुतज्ञान उसमें बनी रस्सी है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-मनोजन्य दीर्घकालीन ज्ञानधारा का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है, और उत्तरकालीन परिपक्व अंश श्रुत ज्ञान है^१। श्रुतज्ञान अगर अपनी पूर्ण मात्रा में प्राप्त हो जाता है तो मनुष्य श्रुतकेवली कहलाता है।

श्रुत ज्ञान के मूल दो भेद हैं^२ द्रव्यश्रुत और भाव श्रुत। भाव श्रुत ज्ञानात्मक है और द्रव्य श्रुत शब्दात्मक। द्रव्यश्रुत ही आगम कहलाता है।

९. श्रुत का प्रामाण्य — धर्म के क्षेत्र में आगम की सर्वाधिक महत्ता है। धर्म का धुरा आगम के इर्दगिर्द घूमा करता है। धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि क्रिया, सभ्यता और सस्कृति आगम से अनुप्राणित होती है। अनेक भारतीय दर्शनो की भाँति जैनधर्म भी आगम का प्रामाण्य अंगीकार करता है; किन्तु उसके प्रामाण्य की उमने एक विगिष्ट कसौटी अंगीकार की है।

जैनधर्म आगम को अपौरुषेय, अनादिनिधन अथवा ईश्वर द्वारा प्रेषित मान कर छुट्टी नहीं पा लेता। उसका कथन है कि अपौरुषेय या अनादि आगम असंभव है। अतएव वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत आगम ही विश्वसनीय एवं प्रमाणभूत हो सकता है। जैनजगत् के दो महान् दार्शनिक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने स्वर में स्वर मिला कर लिखा है—“जो आप्त द्वारा कथित हो, तर्क द्वारा उल्लघनीय न हो, जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से बाधा न आती हो, वही सच्चा शास्त्र या आगम है।”^३

यहाँ पहले ही विशेषणद्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अपौरुषेय होने के कारण नहीं, वरन् आप्त पुरुष द्वारा प्रमाणित होने के कारण ही आगम को प्रामाणिक माना जाता है, कौन सा आगम आप्तप्रणीत है और कौन सा नहीं? यह निर्णय करने के लिए जेप विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

जैनधर्म के अनुसार अनेकान्त दृष्टि के प्रवर्तक, अखण्ड सत्य के द्रष्टा, केवल ज्ञानी तीर्थङ्कर देव ने समस्त जगत के जीवों की करुणा के लिए प्रवचन-

१ “मई पुत्वं जेण सुअ न मई सुअ पुन्विआ”, नन्दिसूत्र २४।

२ स्थानांग सूत्र, स्था० २।

३ स्थानांग, स्था० २-७१

प्रसूनो की वृष्टि की है । तीर्थङ्कर के प्रधान शिष्य गणधर देव अपने बुद्धिपट मे उन कुसुमो को झेलते है और प्रवचन-माला गूंथते है । यह प्रवचनमाला जैन परम्परा मे आगम-प्रमाण के रूप मे स्वीकार की गई है ।

जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर उगमगाने लगता है और चित्त मे चचलता उत्पन्न हो जाती है, तो आद्यप्रणीत आगम ही मुमुक्षु जनो का एकमात्र आधार बनता है । यह आगम ही द्रव्यश्रुत कहलाता है और द्रव्यश्रुत के सहारे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भावश्रुत कहलाता है ।

१०. भेद—कर्तृभेद से आगम दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है । अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य । जिस श्रुत का साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् ने उपदेश दिया और जिसे अगाध मेधा एव बुद्धि के धारक गणधरो ने शब्द-बद्ध किया, वह अंगप्रविष्ट कहलाता है । अंगप्रविष्ट का शब्दार्थ है—'अगो मे अन्तर्गत' अक्षर-पुरुष के वारह अंग है, जिनके नाम ये है —

१ आचारांग २. सूत्रकृत ३ स्थान ४ समवाय ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृधर्मकथा ७ उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक १०. प्रश्नव्याकरण ११ विपाक १२ दृष्टिवाद ।^१

यह वारह अंग समस्त जैनवाङ्मय के मूलाधार है । इन्हे 'गणिपिटक' कहा गया है । इन अंगसूत्रो के आधार पर, इनसे अविरोद्ध विभिन्न स्थविरो एवं आचार्यों द्वारा रचित आगम अंगवाह्य कहलाता है । अंगवाह्य आगमो की सख्या निर्धारित नही की जा सकती; मगर उनकी प्रामाणिकता का आधार अंग शास्त्र ही है ।

जैनाचार्यों ने विपुल श्रुत की रचना की है । वारह उपागसूत्र, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र, और आवश्यक सूत्र आदि आगम तो है ही, इनकी व्याख्या के रूप मे भी चूर्णि, नियुक्ति और टीका आदि का प्रणयन किया गया है, जिसका बहुत बडा परिमाण है ।

इसके अतिरिक्त भी बहुसंख्यक जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक, और दार्शनिक साहित्य का स्वतंत्र ग्रथो के रूप मे निर्माण किया है और आगम प्ररूपित सक्षिप्त तत्त्व का हृदयग्राही तर्कसगत और विगद विवेचन किया है । जैनाचार्यों

की बहुत-सी रचनाएँ न केवल भारतीय साहित्य, अपितु विश्व साहित्य के विशाल भंडार की अनमोल मणियाँ हैं।

११ जैनाचार्यों की साहित्य-सेवा — प्रसंगवश यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि जैनाचार्यों ने साहित्य के किसी भी तत्कालीन प्रचलित अंग को अछूता नहीं छोड़ा है। अध्यात्म, नीति और दर्शन तो उनके प्रधान और प्रिय विषय रहे ही हैं, व्याकरण, काव्य, कोप, अलंकार, छंद, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र, राजनीति, इतिहास आदि-आदि सभी विषयों पर उन्होंने अपनी कलम चलाई, और भारतीय साहित्य को विपुलता, नूतनता एवं दिव्यता प्रदान की।

लोक-भाषाओं को साहित्यिक रूप में उपस्थित करने की मूल कल्पना जैनाचार्यों की ही देन है। दक्षिण में भी कर्णाटक भाषा के प्राचीन साहित्य में से जैनाचार्यों की कृतियाँ पृथक कर दी जाएँ, तो उसमें कुछ शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार भारत की प्राकृत, मस्कृत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि में जैनो का बहुत बड़ा भाग है।

अवधिज्ञान — अभी तक जिस मति और श्रुत-ज्ञान का निरूपण किया गया है, वह परोक्ष ज्ञान था, क्योंकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियों और मन पर अवगमिष्यत थी, यह दोनों ज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में सभी ससारी जीवों को होते ही हैं। एकेंद्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक कोई जीव ऐसा नहीं, जिसे यह प्राप्त न हो। यह बात दूसरी है कि सम्यग्दृष्टि के वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्या-दृष्टि के मिथ्याज्ञान होते हैं, मगर सामान्य रूप में वह होते अवश्य हैं।

अब जिन प्रत्यक्ष ज्ञानों का स्वरूप दिखलाना है, वे ऐसे नहीं। जहाँ तक मनुष्यों और तीर्थंकरों का सम्बन्ध है, उन्हें अवधिज्ञान साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वह साधना मौजूदा जन्म की भी हो सकती है, और पूर्व-जन्म की भी। आत्मा पुनः पुनः जन्म-मरण कर रहा है। वह जब नवीन जन्म लेता है, तो कोरा नहीं जन्मता, वरन् अपने पूर्वजन्मों के भले-बुरे सस्कारों से अनुप्राणित भी होता है। अतएव जिस आत्मा ने पूर्व जन्म में साधना की है, वह उसके फलस्वरूप वर्तमान जन्म में अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अवधि का अर्थ है 'सीमा' या 'मर्यादा'। जब आत्मा इन्द्रिय और मन की मत्तयता के बिना ही, गाक्षात् आत्मिक शक्ति के द्वारा रूपी पदार्थों को,

मर्यादित रूप में जानने लगता है, तब उसका वह ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है ।

मानव जाति ईर्ष्या कर सकती है कि देवयोनि और नरकयोनि के जीवों को जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त रहता है ^१ । मगर नरक योनि के जीवों के लिए वह अधिक दुःख का ही कारण बनता है ।

मन पर्यायज्ञान —मन पर्याय ज्ञान विशिष्ट साधक को ही प्राप्त होता है ^२ । जिसने समय की उत्कृष्टता प्राप्त की है, जिसका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो चुका है, वही उस ज्ञान का अधिकारी होता है । इस ज्ञान के द्वारा किसी भी समनस्क प्राणी की चित्तवृत्तियों को, मनोभावों को जाना जा सकता है ।

समय की उत्कृष्ट साधना मनुष्य योनि में ही होती है, अतएव यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है ।

अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान-दोनों ही यद्यपि अपूर्ण हैं, तथापि वह असाधारण हैं, उनकी एक बड़ी विशेषता यही है कि उनकी उत्पत्ति न इन्द्रियों से होती है, न मन से । आत्मिक चैतन्यशक्ति ही उनके प्रादुर्भाव का कारण है । (आधुनिक वैज्ञानिक जिसे (Clairvoyance) कहते हैं, उसके साथ कथञ्चित् अवधिज्ञान की तुलना की जा सकती है । मन पर्याय ज्ञान टैलीपैथी या (Mind Reading) से मिलता-जुलता है ।)

केवल ज्ञान ^३—जैनधर्म ज्ञान की पराकाष्ठा को अनन्त और असीम मानता है । ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान या केवलज्ञान, ज्ञान की उसी पराकाष्ठा के बोधक है ।

जिस ज्ञान से त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुएँ एक साथ जानी जा सकती हैं, वह सर्वोत्तम ज्ञान, केवल ज्ञान कहलाता है । इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और परम चिन्मय बन जाता है । मनुष्य की साधना का यह अन्तिम फल है । इस फल की प्राप्ति होने पर आत्मा जीवन-मुक्त हो जाता है, और पूर्ण सिद्ध के सन्निकट पहुँच जाता है ।

१ नन्दी सूत्र ७ ।

२. स्थानांग सूत्र० स्था० २, उद्देशा० १, सू० ७१ ।

३. स्थानांग सू० स्थान ५, उद्देशा ३, सू० ४६३ ।

विषय अथवा कारण के आधार पर अन्यान्य ज्ञानों के अनेक भेद-प्रभेद होते हैं, किन्तु केवलज्ञान में कोई भेद संभव नहीं, क्योंकि यह परिपूर्ण ज्ञान है, और पूर्णता में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती। उक्त पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, मिथ्यात्व के समर्ग से मिथ्याज्ञान भी हो सकते हैं। किन्तु मन धर्यव, और केवलज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त नहीं होते। अतएव वे सम्यग्ज्ञान ही होते हैं।

द्विव का विश्लेषण

द्रव्य व्यवस्था

१ द्रव्य मीमांसा का उद्देश्य—द्रव्य अथवा तत्त्व का बोध जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंग है। श्रमण सस्कृति के तत्त्व निरूपण का उद्देश्य जिज्ञासा-पूर्ति नहीं, चारित्र-लाभ है। इस ज्ञानधारा का उपयोग, साधक आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिबन्धक तत्त्वों के उच्छेद के लिए करता है।

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका साहित्य निगूढ वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत करता है। द्रव्य व्यवस्था जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान जैन विज्ञान के अकाट्य तथ्यों पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता जा रहा है। जैन तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान की समताएँ अनेक बार विद्वानों का विस्मय का विषय बन जाती हैं। भौतिक साधनों के सहारे तत्त्वअन्वेषण करने वाले वैज्ञानिकों से आत्मज्ञानी महात्मा कहीं आगे भी बढ़ गये, यही तो आत्म-साक्षात्कार करने वाले दिव्य द्रष्टाओं का चमत्कार है।

किन्तु जहाँ दोनों के तत्त्वनिरूपण में बहुत कुछ साम्य है, वही से दोनों के उद्देश्य में बहुत बड़ा वैपम्य भी है। जैन धर्म के अनुसार तत्त्वज्ञान मुक्तिलाभ का एक अनिवार्य साधन है, जब कि विज्ञान का लक्ष्य विज्ञान ही है।

प्रत्येक विचार स्याद्वाद से परिमार्जित हो, और प्रत्येक आचार अहिंसा से परिपूर्ण हो तो साधक के मुक्तिलाभ में कुछ विलम्ब नहीं रहता, इसी कारण चारित्र से भी पूर्व तत्त्वज्ञान को स्थान दिया गया है।

२. द्रव्य क्या है ? 'द्रव्य', शब्द 'द्रव' धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ

१ गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थ सूत्र० अ० ५, सू ३८, उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ६।

है कि द्रवित होना, प्रवाहित होना । ससार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन स्वरूप निश्चित होते हैं—उत्पन्न होना, नष्ट होना, ध्रुव बना रहना ।

कुम्भकार खेत में से मिट्टी लाता है, और घड़ा बनाता है । तब घड़े की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका का नाश हो जाता है । मृत्तिका और घट, दोनों अवस्थाओं में विद्यमान सामान्य तत्त्व ध्रौव्य है ।

तात्पर्य यह है कि प्रजनन और विनाश की अविरत गतिशील धारा में भी पदार्थ का मूल स्थायी रहता है । इसी ज्ञान को भगवान् महावीर ने मातृका त्रिपदी ^१ कहा है । इन तीन अशो का समन्वय होना ही सत् ^२ का लक्षण है । इस असीम और अनन्त विश्व का कण-कण तीनों अशो से समन्वित है, जिसमें यह तीनों अग्र नहीं, ऐसी किसी वस्तु की सत्ता सभव नहीं है ।

३ विश्व का मूल —तात्त्विक एव मौलिक दृष्टि से विश्व का विश्लेषण किया जाय तो दो तत्त्व या द्रव्य उपलब्ध होते हैं ^३, चेतन और जड़ । कतिपय दार्शनिक जगत् के मूल में एक मात्र चैतन्यमय तत्त्व की सत्ता अंगीकार करते हैं तो दूसरे एक मात्र जड़ तत्त्व की । मगर जैनधर्म न अद्वैतवादी है, और न अनात्मवादी । अतएव वह दोनों तत्त्वों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है । जड़ तत्त्व में इतनी विविधता और व्यापकता है कि उसे समझने के लिए थोड़े पृथक्करण की आवश्यकता होती है । अतएव उसके पांच विभाग कर दिये गये हैं । जीव के साथ उन पांच प्रकार के अजीवों की गणना करने से सत् पदार्थों की संख्या छह स्थिर होती है । वे यह हैं :—

१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्मास्तिकाय, ४. अधर्मास्तिकाय,
५. आकाश, ६. काल ।

सत् का दूसरा नाम द्रव्य है । यह समग्र चराचर लोक इन्हीं षट्द्रव्यों का प्रपञ्च है । इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । द्रव्य नित्य है, अतएव

१ माउयाणुयोगे, उपन्ने वा, विगये वाधुवे वा, स्थानाम, स्था० १०,

२ सद्व्वं वा, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ८, उ० ९ ।

३. जीवदव्वा य, अजीव दव्वा य, अनुयोग, सू०, १४१

लोक भी नित्य है। उसका किसी भी भौतिक लोकोत्तर शक्ति द्वारा निर्माण नहीं किया गया है। अनेक कारणों से समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुआ करते हैं, परन्तु मूल द्रव्यो का न नाश होता है और न उत्पाद ही। इसी कारण जैन-धर्म अनेक मुक्तात्मा (ईश्वरो) की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी उन्हें सृष्टिकर्ता नहीं मानता।

जीव, पुद्गल आदि को द्रव्य कहने का कारण, उनका विविध परिणामों से द्रवित होना है। परिणाम या पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता और बिना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता।

४ पृथक्करण—हम जिसे वस्तु कहते हैं, उसमें तीन अंश विद्यमान होते हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय^१। वस्तु का नित्य अंग द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है, और क्रमभावी अंश पर्याय है। एक उदाहरण द्वारा इन तीनों का स्वरूप समझे—जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान चैतन्य-गुण है और मनुष्य पशु, कीट, पतंग आदि द्वाये पर्याय हैं। यह तीनों अंग सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते हैं, और वस्तु कहलाते हैं।

नक्षेप में द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से मुक्त हो, अथवा जो उत्पाद और विनाश से युक्त होकर भी अपने मूल स्वभाव का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो।

वस्तुओं में पाई जाने वाली भिन्नता दो प्रकार की होती है—‘अन्यत्वरूप’ और ‘पृथक्त्व रूप’। दूध और दही की भिन्नता अन्यत्व रूप और कागज तथा कलम की भिन्नता पृथक्त्व रूप है। दूध और दही के पर्याय में अन्तर है, मगर मूल द्रव्य-प्रदेशों में नहीं, जब कि कागज और कलम के प्रदेश मूलतः पृथक्-पृथक् हैं। मनुष्य बालक है, युवा है, वृद्ध है। इन द्वायाओं में अन्यत्व तो है, किन्तु पृथक्त्व नहीं, क्योंकि इन तीन अवस्थाओं में मूलगत मनुष्य एक ही है।

द्रव्य, गुण और पर्याय में भी पृथक्त्व रूप भिन्नता नहीं है। द्रव्य को वह अनादिनिघ्न शक्तियाँ, जो द्रव्य में व्याप्त होकर वर्तमान रहती हैं, गुण कहलाती हैं, और उत्पन्न-विनष्ट होने वाले विविध परिणाम ‘पर्याय’ कहलाते हैं। इन दोनों का समूह द्रव्य कहलाता है।

उक्त छह द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त पाच द्रव्य अस्तिकाय^१ कहलाते हैं, क्योंकि वे अनेक प्रदेशों के पिण्डरूप हैं। काल द्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप न होने के कारण अस्तिकाय नहीं कहलाता।

जीव द्रव्य चेतन और, शेष अचेतन है। पुद्गल द्रव्य मूर्त^२ रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है और जेव पाच अमूर्त है। जीव और पुद्गल द्रव्य और सक्रिय-चार द्रव्य क्रियाहीन है।^३ समस्त लोक में व्याप्त होने के कारण उनमें गति-क्रिया सम्भव नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश एक-एक अखण्ड पिण्ड है,^४ जेव द्रव्य ऐसे नहीं है।

५ जीवद्रव्य—जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण वह अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होता है, चेतना^५ है। चेतनावान् जीव अनन्त है, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीव है, जीव का अपना कोई आकार नहीं तथापि वह जब जिस शरीर में होता है उसी के आकार का और उसी के बराबर होकर रहता है^६। एक जीव के असंख्य प्रदेश-अविभवत अंश होते हैं, और वे प्रकाश की तरह सकोच-विस्तारशील हैं। हाथी मर कर चिऊटी के पदार्थ में जन्म लेता है, तो प्रदेश स्वभावतः सिकुड़ कर चिऊटी के शरीर में समा जाते हैं।

^७ज्ञाता, द्रष्टा, उपयोगमय, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त यह सब जीव के विशेषण हैं। भगवान् महावीर कहते हैं —“हे गौतम !^८ जीव इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है।”

“हे गौतम ! जीव^९ न लम्बा है, न छोटा, न गोल, न तिकोना, न

१. नन्दी सूत्र, सूत्र ५८।

२. पोग्गलतिकाय, रुविकाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० १०,

३. अवट्ठे निच्चे, नन्दी, सूत्र ५८।

४. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

५. उवभोगलक्खणे जीवे, भगवती श० २ उ० १०

६. प्रदेश सहार-विसर्गाम्भ्यां, प्रदीपवत्, तत्त्वार्थ सूत्र ५, १६ राजप्रश्नीय
—सूत्र ७४,

७. उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ११

८. उत्तराध्ययन अ० १४, गा० १९,

९. आचारांग अ० १।

चौकोर, न परिमण्डल, न काला, नीला, पीला, रक्त और न ज्वेत है। सुगंध और दुर्गन्ध उसका स्वरूप नहीं, खट्टा मीठा आदि कोई रस उसमें है नहीं। कोमल कठोर आदि सभी स्पर्श उसमें दूर हैं। वह उत्पाद और विनाश में परे है, वह स्त्री नहीं, वह पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, वह अरुणी सत्ता है। वह बुद्धि से नहीं, अनुभूति से ग्राह्य होता है। तर्कगम्य नहीं, स्वसवेदनगम्य है। उसका परिपूर्ण-स्वरूप प्रकट करने में शब्द असमर्थ है।”

“हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य, सामर्थ्य-उल्लास, और उपयोग जीव के लक्षण हैं।”

“अहम्” (मैं) प्रत्यय से जीव की प्रत्यक्षत. प्रतीति होती है। जीव का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए ग्रन्थान्य प्रमाण भी है। किन्तु ‘अहम्’ प्रत्यय सर्वोपरि प्रमाण है।

पहले कहा जा चुका है कि लोक में जीव अनन्त है। वे सब स्वभावतः समान शक्तियों के धारक हैं, किन्तु कर्मों एवं आवरणों ने उनमें अनेकरूपता उत्पन्न कर दी है। उसके आधार पर सर्वप्रथम जीव दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—ससारी और मुक्त। समस्त आवरणों से रहित शुद्ध जीव मुक्त, और आवरणों के कारण अशुद्ध जीव ससारी कहलाता है।

मुक्त जीव सभी प्रकार के बाह्य प्रभाव से रहित होने के कारण समान हैं, परन्तु ससारी जीवों में मुख्यतया कर्मप्रभाव के कारण नाना प्रकार के दृष्टि-गोचर होते हैं। कर्मप्रभाव से जीव अर्थ भौतिक जैसा बन गया है। जानने देखने की अनन्त शक्ति होने पर भी आँख के बिना देख नहीं सकता, और कान के बिना सुन नहीं सकता।

ससारी जीव दो कक्षाओं में विभक्त है—त्रस और स्थावर। जिन्हें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव हैं। जिन्हे दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वे त्रस कहलाते हैं।

“बौद्ध दर्शन” में वाईस (“बौद्ध धर्म दर्शन” पृष्ठ ३२८, सांख्यदर्शन, तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, भगवती सूत्र, शतक ५, उ० २,) और सांख्य आदि दर्शनों में

ग्यारह इन्द्रिया मानी गई है, मगर जैनदर्शन पाच इन्द्रियाँ स्वीकार करता है। इनके आधार पर जीव के पाच प्रकार होते हैं।

जिन अभागे जीवो को सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त है, उनमे चैतन्य की मात्रा स्वल्पतम है, अतएव साधारण लोगों ने ही नहीं, अधिकांश तत्त्व-चिन्तकों ने भी उनके जीवत्व को नहीं समझ पाया। उनका जीव विज्ञान-अपूर्ण रह गया है। मगर जैनदर्शन की सर्वगामिनी दृष्टि ने उन्हें देखा है और उनका अच्छा खासा विवरण भी दिया है। जैनदर्शन के अनुसार तारतम्य होने पर भी एकेन्द्रिय-स्थावर-जीवो मे चेतना के सम्पूर्ण विकार उपलब्ध होते हैं। उनमें चैतन्य, सुख-दुःखानुभूति, जन्म, मरण, क्रोध, कषाय, सजा आदि विद्यमान हैं, जिनसे उनके जीवत्व का समर्थन होता है। ऐसे जीव पाँच^१ प्रकार के हैं।

१. पृथ्वीकाय —^१ मृत्तिका, धातु आदि पृथ्वी इनका शरीर है। जब तक पृथ्वी अपने मूल पिण्ड से पृथक् नहीं होती, सजीव है।

२. अप्काय —^२ जल ही जिन जीवो का शरीर है, वे अप्काय के जीव हैं। स्मरण रखना चाहिए कि जल में रहने वाले चलते-फिरते असह्य जीव अप्काय नहीं है। अप्काय के जीव उनसे पृथक् हैं, जिनका शरीर जल ही है।

३. तेजस्काय —^३ अग्नि है। जैसे मनुष्य का शरीर आहार पाकर बढ़ता है और उसके अभाव में क्षीण होता है, उसी प्रकार अग्नि भी आहार पाकर बढ़ती है और उसके अभाव में क्षीण होती है। इससे उसके जीवत्व का अनुमान किया जा सकता है।

४. वायुकाय —^४ वायुकाय हवा है। परप्रेरणा के बिना ही तिर्छी गति करना जीव का स्वभाव है, और यह स्वभाव वायु में पाया जाता है।

५. वनस्पतिकाय :—^५ वृक्ष, पौधा और लता आदि भी सजीव हैं। जसे

१. स्थानाग, स्थानांग ५, उद्देशा १, सू० ३६४।

२. उत्तराध्ययन, अ० १०, गाथा २।

३. आचारांग अ० १

४. " " " "

५. " " " "

६. " " " "

मनुष्य जन्म लेकर बाल, युवा और वृद्ध होता है, वैसे ही वनस्पति भी । उमम मनुष्यो के ही समान गयन, जागरण, भय, लज्जा आदि विकार पाये जाते हैं । जैसे मनुष्य पथ्य आहार से पुष्ट, और अपथ्य आहार से दुर्बल होता है, उसी प्रकार वनस्पति भी होती है । मनुष्य की तरह वनस्पति पर भी विष का प्रभाव होता है । अन्य प्राणियों की तरह वनस्पति भी नियत आयु के बल पर जीती है ।

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति का सजीव होना सिद्ध किया है । खेद है कि यह कार्य आगे नहीं बढ़ा, किन्तु एक समय आएगा जब विज्ञान, पृथ्वीकाय, आदि की सजीवता पर भी अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा । इस क्षेत्र में जैन दर्शन अब भी विज्ञान से आगे है ।

द्वीन्द्रिय जीव :—^१ जिन्हें स्पर्श और रसेन्द्रिय प्राप्त है—ऐसे द्वीन्द्रिय जीव, गख, सीप, कृमि आदि हैं ।

त्रीन्द्रियजीव :—^२ इन्हें एक घ्राणेन्द्रिय अधिक प्राप्त होती है । खटमल, चिऊँटी आदि इसी कोटि में हैं ।

चतुरिन्द्रियजीव :—^३ इन्हें नेत्र भी प्राप्त है । मच्छर, मक्खी आदि चार इन्द्रिय वाले हैं ।

पंचेन्द्रिय जीव ^४—मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि पंचेन्द्रिय हैं । इनको पूर्वोक्त चार इन्द्रियो के अतिरिक्त श्रवण-इन्द्रिय भी प्राप्त है । यह कई प्रकार के हैं—जलचर, स्थलचर, नभचर, उर परिसर्प, भुजपरिसर्प आदि । कोई गर्भज होते हैं, और कोई समूच्छिम । कोई समनस्क और कोई अमनस्क होते हैं ।

पाँचो एकेन्द्रिय जीवो में वनस्पतिकाय के सिवाय शेष के सात-सात लाख अवान्तर भेद हैं । वनस्पतिकाय के चौबीस लाख भेद हैं । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के दो-दो लाख प्रकार हैं । सब मिलाकर ८४ लाख जीव योनिया हैं ^५ इन सब जीवो का विशद वर्णन, आप विभिन्न जैनागमो में पायेंगे ।

१. प्रज्ञापना प्रथम पद २ प्रज्ञापना प्रथम पद ३. प्रज्ञापना प्रथम पद

४ प्रज्ञापना प्रथम पद ।

५. आधुनिक विज्ञान, धर्म द्रव्य को Ethor or Principle of motion कहते हैं ।

६. अजीवद्रव्य .—जीवद्रव्य के दिग्दर्शन के पश्चात् अजीवद्रव्य की ओर ध्यान दे । जिसमें जीव के गुण चेतना आदि नहीं है, फिर भी जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से सम्पन्न है और जिस में गुणो और पर्यायो की विद्यमानता है, वह अजीव द्रव्य पाच प्रकार का है—वर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ।

धर्मद्रव्य —^१ यहा धर्म शब्द केवल जैन परम्परा में ही प्रचलित एक पारिभाषिक शब्द है । वह अमूर्त, अक्रिय, अखण्ड और लोकव्यापी द्रव्य है, फिर भी उसमें निरन्तर परिणमन होता रहता है । गतिक्रिया में परिणत जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है, जैसे पानी, मछली की गति में, अथवा लोहे की पटरी, रेल की गति में सहायक होती है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक है । पानी मछली को, और पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नहीं करते, फिर भी पानी के बिना मछली, और पटरी के अभाव में रेल चल नहीं सकती, इसी प्रकार धर्म द्रव्य किसी को गमन करने के लिए बाधित नहीं करता, फिर भी उसके अभाव में गति सभव नहीं है ।^२

अधर्मद्रव्य :—^३ यह द्रव्य धर्म द्रव्य के समान ही है, परन्तु इसका काम जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना है । जैसे ताप के झुलसे हुए मनुष्य में, छाया देख कर विश्राम करने की रुचि स्वयमेव जागृत हो जाती है, अतएव छाया उसकी विश्रान्ति का निमित्त है, उसी प्रकार स्थिति परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मद्रव्य सहायक है ।^४

यद्यपि गति और स्थिति में जीव और पुद्गल स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनकी सहायता के बिना गति और स्थिति सभव नहीं है ।

आकाशद्रव्य —^५ सब द्रव्यो को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश है । यह समस्त वस्तुओ का आधार है और आप ही अपने सहारे टिका है । उसका आधार कोई अन्य द्रव्य नहीं है । यह भी अमूर्त, अक्रिय और अखण्ड है । सर्व-व्यापी है । नित्य होने पर भी परिणमनशील है । (वैज्ञानिक आकाश को 'स्पेस'

१. वैज्ञानिक इसे Principle of rest कहते हैं ।

२. आवश्यक सूत्र ।

३. व्याख्या प्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१ ।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१

५. " " " " " " "

कहते हैं। काट और हेगेल आकाश को मानसिक व्यापार अथवा कल्पना मानते थे, किन्तु आइन्स्टीन ने सिद्ध किया है कि आकाश एक सत् पदार्थ है।

आकाश के जितने भाग में धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त हैं, वह भाग लोकाकाश या लोक कहलाता है। जो भाग उनमें गून्थ है, वह अलोकाकाश है। धर्म-अधर्म द्रव्यों से गून्थ होने के कारण अलोकाकाश में जीव और पुद्गल का गमन या अवस्थान भी नहीं होता। अतएव अलोकाकाश, सूना आकाश ही आकाश है। आकाश का लोक-खण्ड परिमित है, और अलोकखण्ड सभी ओर अपरिमित और असीम है।

काल द्रव्य —^१ कहा जा चुका है कि सभी द्रव्य मूल स्वभाव से नित्य होने पर भी परिणमनशील है। यद्यपि अपने-अपने परिणमन में सब द्रव्य आप ही उपादान हैं, तथापि निमित्त कारण के अभाव में कार्य नहीं होता। अतएव द्रव्यों के परिणाम में भी कोई निमित्त चाहिए। वही निमित्त काल द्रव्य है^२।

समस्त विश्व, काल की सत्ता के बल पर ही क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है। वस्तुएँ देखते-देखते नवीन से पुरातन और जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। यह काल का ही प्रभाव है। (फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्गसन ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic reality है। काल के प्रबल अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है)। काल की सत्ता के अभाव में हम किसी को ज्येष्ठ और किसी को कनिष्ठ किस आधार पर कह सकते हैं ?

पुद्गल द्रव्य —^३ दूर्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है। ग्राम, नगर, भवन, वस्त्र, भोजन, विविध प्रकार के प्राणी वर्ग के शरीर आदि-आदि जो भी हमारी दृष्टि में आते हैं, सभी पुद्गल हैं। यद्यपि यह कहा नहीं जा सकता कि जो पुद्गल है, वह सब हमें दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो दृष्टिगोचर है, वह पुद्गल ही है।

चय-अपचय होना और बनना-विगड़ना-सब पुद्गल के ही रूप हैं। पद-द्रव्यों में एक मात्र पुद्गल ही मूर्त अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है।

१. अनुयोगद्वार, द्रव्यगुणपर्यायिनाम, सू० १२४, भगवती सू०, श० २५,
उद्देशा ५, सू० ७४७।

२. उत्तराध्ययन, अ० २८, गांधी १०।

३. भगवती सू० अ० १३ उद्देशा ४ सू० ४८१।

वण पाच है	— ^१	कृष्ण, नील, पीत, रक्त और व्वेत ।
गंध दो है	—	सुगन्ध और दुर्गन्ध
रस पाच है	—	कटुक, कपाय, तिक्त, अम्ल, और मषुर ।
स्पर्ग आठ है	—	कठिन, मृदु, गुरु, लघु, गीत, उष्ण, सूक्ष्म और स्निग्ध ।

यह सब बीस पुद्गल के असाधारण गुण हैं, जो तारतम्य एव सम्मिश्रण के कारण सख्यात, असख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते हैं ।

शब्द, गंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति, भेद, अधकार, छाया, चाँदनी और धूप पुद्गल के ही लक्षण हैं^२ ।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद^३ हैं —स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है । स्कन्ध का एक भाग देश कहलाता है । स्कन्ध और देश से जुडा हुआ अविभाज्य अश प्रदेश कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कन्ध या देश से पृथक् हो जाता है तब परमाणु कहलाता है ।

साधारणतया कोई स्कन्ध वादर, और कोई सूक्ष्म होते हैं । वादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं^४ ।

इन्हे छह भागो मे विभक्त किया गया है .—

- १ वादर वादर स्कन्ध — जो टूट कर जुड न सके, लकड़ी पत्थर ।
२. वादर स्कन्ध — प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड जाते हैं ।
- ३ सूक्ष्म वादर — जो देखने मे स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे धूप, प्रकाश आदि ।
४. वादर सूक्ष्म — सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गंध, स्पर्श, आदि ।
- ५ सूक्ष्म — इन्द्रियो से अगोचर स्कन्ध, यथा-कर्मवर्गणादि
- ६ सूक्ष्मसूक्ष्म — अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, यथा-कर्मवर्गणा से नीचे के द्वयणुक पर्यन्त पुद्गल ।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुन विभक्त नही हो

१. भगवती सू० ब्रा० १२ उद्देशा ४, स० ४५० ।

२ उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १२ ।

३ प्रज्ञापना परिणाम पत्र, १३ सू० १८५ । ४ अनुयोगद्वार

सकता । परमाणु मे यद्यपि प्रदेश भेद नही है, मगर गुणभेद अवश्य होता है । उसमें एक वर्ण, एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श होते हैं ।

आख का पलक गिराने मे जितना समय लगता है, उसके अमस्यातवे अणु को जैनशास्त्र 'समय'^१ की सजा देते हैं । जैसे पुद्गल का सूक्ष्मतम पर्याय परमाणु है, उमी प्रकार काल का सूक्ष्मतम भाग समय है । परमाणु मे अचिन्त्य वेग होता है, वह एक समय मे सम्पूर्ण लोक को पार कर लेता है । जैनशास्त्र वतलाते हैं कि^२ परमाणु आग की भयानक लपटो मे से गुजर कर भी जलता नही, पानी से गलता नही, सड़ता नही, हवा का उस पर असर होता नही, वह अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्वर है । हा, किसी स्कन्ध मे जब मिल जाता है तो उसका परमाणु—पर्याय नही रहता, तथापि उसकी सत्ता बनी रहती है । स्कन्ध के पृथक् होने पर वह पुन परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है ।

जैन धर्म का परमाणु विज्ञान अत्यन्त विशद और गम्भीर है । जैन साहित्य में जितना चिन्तन एव विव्लेषण परमाणु के विषय में उपलब्ध है, उतना विश्वसाहित्य मे कही अन्यत्र नही । कहा जाता है कि आज का युग परमाणु-युग है, किन्तु जैन परमाणु विज्ञान को समझ लेने पर स्पष्ट हो जायेगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक अणु तक अभी नही पहुंच सके हैं । उसे पाने के लिए अब भी गहरा गोता लगाने की आवश्यकता है । अणुभेद की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुतः स्कन्ध भेद—पिण्डभेद है । अणु तो अविभाज्य है ।

एक अणु का दूसरे अणु के साथ किस प्रकार सयोग अर्थात् बंध होता है ? किन् विगोपताओं के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते हैं, यह जानने के लिए जैनागमो का अभ्यास करने की आवश्यकता है । (देखिए—भगवती सूत्र, पन्नवणासूत्र, पचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, आदि) ।

शब्द परमाणुजन्य नही, स्कन्धजन्य है, दो स्कन्धो के नघर्ष से शब्द की उत्पत्ति होती है । कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त आकाश का गुण कहने हैं, मगर अमूर्त का गुण मूर्त नही हो सकता । शब्द मूर्त है, यह जैन मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी समर्थित हो चुकी है । शब्द का कूप आदि मे प्रतिब्वनित होना और ग्रामोफोन मे बद्ध होना उसके मूर्तत्व का प्रमाण है ।

पुद्गल का चमत्कार—उपर्युक्त छह द्रव्यो का विस्तार ही यह जगत् है ।^३ इसमे इनके अतिरिक्त कोई सातवा द्रव्य नही है ।

१. अनुयोगद्वार । २ स्थानांग स्थान, ३ उद्देशा० ३ सू० ८२

३. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८ ।

तत्त्व-चर्चा

पिछले प्रकरण मे द्रव्यो के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुतः उसी मे तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, वयोकि जैसे मूलद्रव्य जीव और अजीव दो है, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो है। फिर भी जैनशास्त्रो मे द्रव्यो से पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्यनिरूपण सृष्टि का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए है, जब कि तत्त्वविवेचन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल विश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अग्रभूत पदार्थों का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्वज्ञान के सहारे मुक्तिसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव मे कोरे द्रव्य ज्ञान से मुक्तिलाभ होना संभव नहीं है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व विवेचन से ही संभव है। निगूठ नायपुत्त महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जब तक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता, वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

जैनधर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है—प्रयोजनभूत ज्ञान, और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान ही 'प्रयोजनभूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं, कि जगत् कितना विशाल है, और इसके उपादान क्या हैं? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है। सब आत्माएँ तत्त्वतः समान हैं, तो उनमे वैषम्य क्यों दृष्टिगोचर होता है? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति मे रहती है? इन्ही प्रश्नों के समाधान के लिए जैनागमो मे तत्त्व का निरूपण किया गया है।

सक्षेप मे यह कि द्रव्यनिरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एव लौकिक है, और तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नौ^१ है — १ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आस्रव ६. सवर ७ निर्जरा ८ वव ९. मोक्ष।

यह जैन धर्म का आध्यात्मिक मन्थन तथा विकास के साधक और

१ स्थानांग, स्था० ९, सूत्र, ६६५; उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गा० १४।

बाधक तत्त्वों का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इत्ही तत्त्वों के आधार पर जीव के उत्थान, पतन, सुख, दुःख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएँ हल करता है। इन तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१ जीव—जीव के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। जीव कहिए या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी कर्मबन्ध के कारण मूर्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन और दुःखी बनाता है। आत्मा कर्म उपार्जन करने में स्वतन्त्र, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है^१। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यों की भाँति परिणामी नित्य है।

२. अजीव—अजीव का वर्णन पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि जीव कर्मबन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल है। देखना चाहिए कि जीव का कर्म पुद्गलों के साथ क्यों और कैसे सम्बन्ध होता है।

३. पुण्य—^२“पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।”

“जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।” पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल है, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना में सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, सयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म भी पुण्य का फल है। पुण्य, मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

(आचार्य हेमचन्द्र ने कर्मों के लाघव को भी पुण्य माना है) “पुण्यत—कर्मलाघवलक्षणात् शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।”—योगशास्त्र—प्र० ४, श्लो० १०७।

जिन प्रकारों से पुण्योपार्जन होता है, उन्हें नौ^३ भागों में विभक्त किया है—

१. अष्पा कृत्ता विकृता य, उत्तरा०, अ० २० गा० ३७।

२. स्यानांग, अभयदेव टीका, प्रथम स्यान

३. नवपुण्ये, ठाणांग, ठाणा ९.

१. अन्नपुण्य — भोजन का दान देना ।
२. पान पुण्य — पानी का दान देना ।
३. लयनपुण्य — निवास के लिए स्थान-दान करना ।
४. जयनपुण्य — शय्या, सस्तारक-विछौना आदि देना ।
५. वस्त्रपुण्य — वस्त्र का दान देना ।
६. मन पुण्य — मन के शुभ एवं हितकर विचार ।
७. वचनपुण्य — प्रशस्त वाणी का प्रयोग ।
८. कायपुण्य — शरीर से सेवा आदि शुभ प्रवृत्ति करना ।
९. नमस्कारपुण्य — गुरुजनो एवं गुणी जनो के समक्ष नम्रभाव-धारण करना, और प्रकट करना ।

पुण्य के भी दो भेद हैं—१. द्रव्य पुण्य और २. भाव पुण्य ।

अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियों से पुण्य का उपार्जन होता है । विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुखी प्राणियों के दुःखनिवारण करने की भावना, तथा तुदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है । और इन्हीं सद्गुणों को सम्यक्दृष्टिपूर्वक सम्पादन किया जाय, तो यह धर्म तथा निर्जरा के भी कारण बन जाते हैं ।

पाप—जिस विचार, उच्चारण एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है । पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दुःखमय बनाते हैं । निम्नलिखित अठारह अशुभ आचरणों में सभी पापों का समावेश हो जाता है ।

१. प्राणातिपात-हिंसा ।
२. मृषावाद-असत्य भाषण ।
३. अदत्तादान-चौर्यकर्म ।
४. मैथुन-काम-विकार, लैंगिक प्रवृत्ति ।
५. परिग्रह-ममत्व, मूर्छा, तृष्णा,
६. क्रोध-गुस्सा ।

संचय ।

७. मान-अहंकार, अभिमान ।
८. माया-कपट, छल, षडयन्त्र, कूटनीति ।
९. लोभ-संचय के संरक्षण की
१०. राग-आसक्ति ।

वृत्ति ।

११. द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या
 १२. क्लेश-सघर्ष, कलह, लडाई, झगड़ा
- आदि ।

१३. अम्याख्यान-दोषारोपण १४. पिशुनता-चुगनी
 १५. परपरिवाद-परनिदा । १६. रति-अरति-हर्ष और शोक ।
 १७. मायामृषा-कपट सहित झूठ । १८. मिथ्यादर्शनशल्य-प्रयथार्थ श्रद्धा ।

आस्रव —^१ आत्मा मे कर्मों का आना और उनके आने का कारण आस्रव कहलाता है । मन, वचन, और काय की वह सब वृत्तिया, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, आस्रव है । आस्रव कर्मबन्ध का कारण है ।

आत्मा के लोक मे आस्रव ही कर्मों का प्रवेशद्वार है । मुमुक्षु-जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियाँ या प्रवृत्तिया है, जिनके कारण कर्मों का आगमन होता है ? उन्हें जाने बिना निरुद्ध नहीं किया जा सकता, और मुक्तिलाभ भी नहीं लिया जा सकता ।

आस्रवजनक वृत्तियो और प्रवृत्तियो की ठीक तरह गणना नहीं हो सकती, तथापि वर्गीकरण करके जैनशास्त्रो मे अनेक प्रकार से उनका दिग्दर्शन कराया गया है । मूल मे उनकी सख्या पाच है .—

- | | | |
|--------------|---|------------------------------|
| १. मिथ्यात्व | — | विपरीत श्रद्धा । |
| २. अविरति | — | अहिंसा, असत्य आदि । |
| ३. प्रमाद | — | कुशल अनुष्ठान मे अनादर । |
| ४. कषाय | — | क्रोध, मान, माया, लोभ । |
| ५. योग | — | मन, वचन और काया का व्यापार । |

संवर—^२ मुमुक्षु जीव कर्मों के आस्रव के कारणो को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियो का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है । आस्रव का रुक जाना ही संवर है । उदाहरणार्थ—यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्वजन्य आस्रव रुक जाता है, अहिंसा सत्य आदि व्रतो का आचरण करने से अविरति-जन्य आस्रव नहीं होता, अप्रमत्त अवस्था मे प्रमादजन्य आस्रव नहीं होता, वीतरागदशा प्राप्त कर लेने पर कषाय-जन्य आस्रव रुक जाता है, और पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है ।

कर्मास्रव का निरोध^३ मन, वचन, काय के अप्रशस्त व्यापार को रोकने

१. समवायांग, समवाय ५ ।

२. उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ११ ।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९, सूत्र २, स्थानांगवृत्ति, स्था० १ ।

से, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से, धमा आदि धर्मों का आचरण करने से, अन्त-करण में विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र्य का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योग-क्रिया को सर्वथा निरुद्ध नहीं कर सकता। उठना, बैठना, खाना-पीना, सभाषण करना आदि जीवन के लिए अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियों की मनाही नहीं करता, परन्तु इन पर अंकुश अवश्य लगाता है, और वह अंकुश है विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमें विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए, वह समस्त क्रियाएं आस्रव हैं जिनके पीछे अविवेक काम करता है, इसके विपरीत विवेक-पूर्ण की जाने वाली क्रियाये धर्म और संवरमय हैं।

निर्जरा:—^१ संवर नवीन आने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना संवर समझिए। मगर जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे धीरे-धीरे उलीचना पड़ेगा^२। बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना। पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना निर्जरा तत्त्व है। कर्मनिर्जरा के दो प्रकार हैं—
श्रौपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तप प्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से, बलात्कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना श्रौपक्रमिक निर्जरा है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय में आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक निर्जरा है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है; किन्तु साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है। वह अन्त में पूर्णरूप से निष्कर्म^३ बन जाता है।

मगर यह साधना सरल नहीं है। इसके लिए सभी पर पदार्थों में

१. स्थानाग, स्या० ५, उ० १, सूत्र ४०९।

२ जहा महातलागस्त, उत्तराध्ययन, अ० ३०, गा० ५।

३ उत्तराध्ययन, अ० १३, गा० १६।

अनासक्ति और साथ ही आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। ऐसा साधक अपने विराट् चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना ही अपना एकमात्र व्यय मानता है। जैनशास्त्र साधक-जीवन की अनासक्ति को यो प्रकट करते हैं—

‘अवि अप्पणो वि देहन्दि, नायरति ममाइय ।’

ससार के अन्य पदार्थों की बात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी समभाव नहीं रहता। वह अन्तःस्थ होकर स्वरूपरमण में ही लीन रहता है। इसी कारण सयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण भर में फल भोगे बिना ही भस्म कर देता है। अडोल अकम्प साधक जगत् में रहता हुआ भी, जगत् से और देह में रहता हुआ भी देह से ऐसा अलिप्त रहता है जैसे कीचड़, पानी, और आग में पडा हुआ सोना अपने स्वरूप में शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्मसघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैन परिभाषा में इसे ‘सकाम’ निर्जरा कहते हैं।

विवग्न होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते हैं, और फल देने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। वह अकाम निर्जरा है। साधारण ससारी प्राणी अकामनिर्जरा द्वारा ही कर्मों को जीर्ण करते हैं, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपार्जन कर लेते हैं, जिससे उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा, और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एवं अगान्तभाव से कष्ट भोगना, अकामनिर्जरा है।

बन्ध —आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति, कर्मों का मिल जाना, बन्ध कहलाता है। किन् वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से कर्मों का आस्रव होता है, यह हम देख चुके हैं, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता कैसे है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्गल रूपी हैं। अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार संभव है? १

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है; तथापि अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त

ससारी प्राणी ने अब तक कभी अपना अमूर्त स्वभाव प्राप्त नहीं किया है, और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मबद्ध नहीं होता ।

खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ कव संयोग हुआ, नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहल कव कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता । इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इनका सम्बन्ध अनादिकालीन है ।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आकर चिपक जाते ह, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते हैं ।

राग-द्वेष, मोह आदि जो विकृत भाव कर्मपुद्गलो के बन्ध में कारण हैं, वे भाव बन्ध हैं, और कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक होना द्रव्य बन्ध है ।

पुद्गल की अनेक जातियों में एक 'कर्मण' जाति है । इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । जब आत्मा में रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वही के आत्मप्रदेशो से बद्ध हो जाते हैं, जहाँ वे पहले से मौजूद थे । यही बन्ध का स्वरूप है । बन्ध के समय उन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार^१ कहे जाते हैं ।

गाय घास खाती है, और अपनी अर्दयं यन्त्रप्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है । उस दूध में चार बातें होती हैं —

१ दूध की प्रकृति (मधुरता) २ कालमर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि । ३ मधुरता की तरमता, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम, और वकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता होना आदि । ४ दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि ।

इसी प्रकार कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है । कर्म के स्वभाव असंख्य हैं, फिर भी उन्हें आठ भागों में विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद में दिया गया है । स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है, जिसे स्थिति बन्ध कहते हैं । फल (रस) देने की तीव्रता अथवा

मन्दता 'अनुभागबन्ध' या 'रस बन्ध' है, और कर्मप्रदेशों का समूह 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है।

इन चार बन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगों की चञ्चलता पर निर्भर होते हैं, अर्थात् कितने कर्मदल बन्ध, और उनमें किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, वह वात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है। कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहे, और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कषाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है।

मोक्ष — संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है। जब कर्म नहीं रहते तो कर्मजनित उपाधियाँ भी नहीं रहती, और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैनधर्म-सम्मत मोक्ष है।

मुक्त दशा में आत्मा^२ अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यधन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते हैं, जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है वह फिर कभी विकारमय नहीं होता। वह आस्रव और बन्ध के कारणों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है। मुक्तात्मा फिर कभी ससार में अवतीर्ण नहीं होते^३ वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त है।

आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगतिशील है। जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूवा जल में छोड़ देने पर नीचे की ओर चला जाता है, और ठेठ पैदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है, और जैसे अग्निगिखा स्वभावतः ऊर्ध्वगति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करती है।

१ उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ७२।

२. उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ६७।

३ दशाश्रुतस्कंध, अ० ५, गा० १३।

मगर लोकाकाश से आगे गति सहायक धर्मद्रव्य नहीं है। अतएव वहाँ उसकी गति का निरोध हो जाता है, और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग^१ में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार समस्त औपाधिक भावों से छुटकारा पा लेना, चैतन्यानुभूति की पूर्ण विशुद्धि हो जाना, या आत्मा का परम-आत्मा बन जाना ही मोक्ष है। यही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

संसार-दशा में, आत्मा में ज्ञान और आनन्द के जो विकृत अणु अनुभव में आते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द नामक गुण के विकार हैं। मुक्त-दशा में वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं, अतएव मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान, और पूर्ण एव अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

मोक्ष-लाभ ही मानव-जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओं का सार है।

प्रमाण-मीमांसा

जैनशास्त्रों में ज्ञान की मीमांसा के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति, और तार्किक पद्धति में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है, तथापि दोनों का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पांच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे। तार्किक पद्धति के अनुसार सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान, प्रमाण कहलाता है। प्रमाण ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है^२।

१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. आगम और ४. उपमान।

इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१ प्रत्यक्ष :—^३ विशद ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान में वस्तुगत विशेषताएँ प्रचुरता से प्रतीत होती हैं, वह प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त पांच ज्ञानों में से मति ज्ञान

१ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५७।

२. पञ्चकखे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, अनुयोगद्वार। प्रमाणद्वारम्।

३. से किं तं पञ्चकखे? अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वारम्।

और श्रुत ज्ञान परोक्ष^१ है और अन्तिम तीन-अवधि, मन पर्याय, और केवल ज्ञान-प्रत्यक्ष^२ है । प्रत्यक्ष में भी अवधिज्ञान और मन-पर्यायज्ञान विकल या आगिक प्रत्यक्ष है, और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुतः परोक्ष है, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते हैं ।

२. अनुमान —^{३-४} अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है । यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका अपना विशिष्ट स्थान है । अनुमान के द्वारा ही हम ससार का अधिकतम व्यवहार चला रहे हैं । अनुमान के आवार पर ही तर्कशास्त्र का विशाल भवन खड़ा हुआ है ।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है । अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव में धूम्र उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारण भाव व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है । इसका निश्चय तर्क प्रमाण से होता है । अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का बोध हो जाता है । वही बोध अनुमान कहलाता है । किसी जगह धूम से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वतः होती है^५ यही अनुमान ज्ञान है ।

कही कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है । मनुष्यों में भी अमुक मनुष्य का है, और पशुओं में भी अमुक पशुजाति का है । इस प्रकार केवल स्वर से स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है^६ ।

अनुमान के दो भेद हैं — स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अनुमान-कर्ता जब अपनी अनुभूति से स्वयं ही किसी तथ्य (ज्ञेय-साध्य) का हेतु

१. परोक्षे णाणे दुविहे, स्थानांग सूत्र, स्या० २ ।

२. त्तिविहे पण्णते, अनुयोगद्वार प्रमाणद्वारम् ।

३. से किं तं अणुमाणे, अनुयोगद्वार० प्रमाणद्वारम् ।

४. अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्, मल्लघारीया टीका ।

५. अग्नि धूम्रेणं

६. सखं सहेणं

(साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वह वचनप्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझाता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान का शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियों ने बहुत विचार किया है। न्यायदर्शन में परार्थानुमान के पांच अवयव^१ स्वीकार किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :-

१. पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा) ।
२. क्योंकि वहाँ धूम्र है (हेतु) ।
३. जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर (उदाहरण) ।
४. पर्वत में भी धूम्र है (उपनय) ।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)

जैन तार्किक समझदारों के लिए इनमें से प्रथम के दो अवयवों का प्रयोग ही पर्याप्त मानते हैं। अलवत्ता किमी अवोध व्यक्ति को समझाने के लिए अधिक अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग में कोई हानि नहीं समझते। मगर पाँचों अवयवों के प्रयोग को वे अनिवार्य नहीं समझते।

३. आगम प्रमाण ---^२ श्रुतज्ञान के विवेचन में आगम प्रमाण का वर्णन किया जायेगा।

४. उपमान प्रमाण ---^३ प्रसिद्ध पदार्थ के सदृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् बोध होना उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

'गवय गौ के समान होता है' यह वाक्य जिसने सुन रक्खा है, वह व्यक्ति जब अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण करके झट समझ जाता है, कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनों के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

१ पंचेविह पण्णत्तं ।

२. से किं तं आगमे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम् ।

३. से किं त ओवस्से, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम् ।

प्रमाणों का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी प्रागमिक है । पञ्चाद्वर्ती तार्किक आचार्यों ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है । उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं — साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष^१ । परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है —

१. स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क^४ अनुमान और ५ आगम ।

स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण में भी पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नहीं है । इसमें उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान नहीं देकर, प्रत्यभिज्ञान में सम्मिलित कर लिया गया है ।

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क उस वर्गीकरण के अनुसार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है ।

नयवाद

१. नय स्वरूप — विग्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी के रूप में प्रमाण को अंगीकार करते हैं । किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध में एक नयी सूझ देता है । उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तुतत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नहीं है । वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है । जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक बन गये हैं, जब कि जैनदर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है ।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है । नय उसी वस्तु के अंशों को, उसके खंड-खंड रूपों को जानता है ।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है । विश्लेषण के बिना उसका परिपूर्ण रूप नहीं जाना जा सकता । तत्त्व का विश्लेषण करना और विश्लिष्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है ।

१. जैन न्याय तर्क संग्रह (यशोविजय) प्रमाण खण्ड ।

नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के अविरोध का मूल खोजा जाता है, और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारो की मीमासा है। वह एक ओर विचारो के परिणाम, और कारण का अन्वेषण करते हैं, और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारो मे अविरोध का बीज खोज कर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड़ पदार्थ, सभी विषयो मे परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माए अनन्त-अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले मन्तव्यो के विषय मे नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माए अनेक हैं ? इस प्रकार के दृष्टिकोणो का अन्वेषण करके उन विचारो की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारो के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत के विचारो के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म-स्वभाव गुण विद्यमान हैं। उनके विषय मे अनन्त अभिप्रायो को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मत्मक वस्तु को अखण्ड रूप मे जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। प्रमाण अनेकाण ग्राही है, तो नय एक अश का ग्राहक है।

२. नय की सत्यता—कहा जा सकता है कि अनेक अशो मे से सिर्फ एक अश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्याज्ञान है। नय यदि मिथ्याज्ञान है तो वह वस्तुतत्त्व के निर्णय का आधार कैसे बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है, कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्म-स्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश सभव नहीं है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपो मे परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय मे उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि मे

जन्म लेता है, तो कभी नरक का कीड़ा बन जाता है। इस दृष्टिकोण से आत्मा अनित्य भी है। यहां नित्यताग्राही नय अगर अनित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे तो वह सम्यक्नय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपन दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयो के दृष्टिकोण का विरोध करता है तो ऐसा करनेवाला नय मिथ्यानय बन जाता है।

सरल शब्दों में कहना चाहिए—कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नहीं कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा तो वह स्वयं झूठा हो गया।

३. नयभेदः—कहा जा चुका है कि एक वस्तु में अनन्त-अनन्त धर्म है और उसमें एक एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त है तो नय भी अनन्त होने चाहिए। वास्तव में ऐसा ही है। जगत् में प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना में नहीं आ सकते तो उनको ग्रहण करने वाले नयो की गणना भी सम्भव नहीं। इसीलिए जैनदर्शन कहता है :—

‘जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया ।’

अर्थात्-जितने वचन के पय हैं, या वस्तु सम्बन्धी अभिप्राय हैं, उतने ही नय के प्रकार हैं।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो उन समस्त नयो को दो भागों में बाटा जा सकता है^१।

१ द्रव्यार्थिकनय और २ पर्यायार्थिक नय।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न और देशों और कालों में होने वाली नाना अवस्थाएँ पर्याय कहलाती हैं। समस्त विचारों की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूलभूत दो ही हैं।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

१. से किं तं णए ? लक्ष्मणया पणत्ता अनुयोगद्वार नयद्वारम,

मध्यम रीति से इन दोनों नयों के सात भेद किये गये हैं :—^१

१. नैगम २. संग्रह ३. व्यवहार ४. ऋजुसूत्र ५. शब्द ६. समभिरूढ
और ७. एवंभूत ।

इनका मन्दित्र परिचय इस प्रकार है .—

१. नैगम :— नैगम अर्थात् लोकरूढि या लौकिक सस्कार से उत्पन्न हुई कल्पना को नैगम नय कहते हैं । जैसे चैत्रशुक्ला त्रयोदशी आने पर कहना— आज महावीर भगवान् का जन्म दिन है । वास्तव में भगवान् महावीर का जन्म अड़ार्ह हजार वर्ष पूर्व हुआ था, फिर भी लोकरूढि के अनुसार ऐसा कहा जा सकता है । यद्यपि रास्ता कही आता-जाता नहीं, फिर भी लोग कहते हैं—यह रास्ता दिल्ली जाता है । फूटे घड़े में पानी चूता है, मगर दुनिया कहती है, घड़ा चूना है । जिस दृष्टिकोण से ऐसे कथन सही समझे जाते हैं, वह दृष्टिकोण नैगम नय कहलाता है ।

२. संग्रहनय—^२ संग्रहनय का अर्थ है अभेद दृष्टि । जड़ और चेतन तत्त्वों की जो धारा समान रूप से प्रवाहित हो रही है, उसी सामान्य तत्त्व को मुख्य करके सत्तावर्म की प्रधानता को लक्ष्य में रखकर सब को एक रूप मानने वाला अभिप्राय संग्रहनय कहलाता है ।

जड़ और चेतन एक हैं, क्योंकि दोनों में एक ही सत्ता समान रूप से व्याप्त है । सब आत्मा एक है, क्योंकि उनकी स्वाभाविक चेतना में कोई विलक्षणता नहीं है । मनुष्य मात्र एक है, क्योंकि मनुष्यत्व जाति एक है । इस प्रकार समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करना संग्रहनय है ।

स्मरण रखना चाहिए कि जिन वस्तुओं में किसी समान धर्म के आधार पर एकता की कल्पना की गई है, उनमें बहुत से विशिष्ट धर्म भी होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है । मगर संग्रहनय उन्हें स्वीकार नहीं करता ।

१. से कि तंणए ? सत्तमूलणया पण्णता, स्थानांगसूत्र स्था० ७,
सूत्र ५५२ ।

२ अनुयोगद्वार, नयद्वार, गा० १३७ ।

३. व्यवहार नय —^१ पदार्थों में रहे हुए विशेष अर्थात् भेदकारी धर्मों को प्रधान करके उनमें भेद स्वीकार करने का दृष्टिकोण व्यवहार नय है।

संग्रह नय अभेद की प्रधानता पर चलता है, मगर अभेद से लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। जड़ और चेतन सत्ता की समानता के कारण भले ही एक हो, मगर जड़ में चेतना नहीं है, और चेतन जीव में चेतना है। इस कारण दोनों की भिन्नता भी वास्तविक है। मनुष्यत्व के लिहाज से मनुष्य मात्र एक है सही, फिर भी मनुष्य-मनुष्य में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला अन्तर भी वास्तविक है। इस प्रकार पृथक्करण वादी दृष्टिकोण व्यवहारनय है।

लोक-व्यवहार अभेद से नहीं, भेद से चलता है। संग्रहनय की दृष्टि में साड़ी और पगड़ी एक है, मगर साड़ी की जगह पगड़ी, और पगड़ी की जगह साड़ी से काम नहीं चलता, दोनों में भेद है और उस भेद को स्वीकार करना ही व्यवहार नय है।

यह तीन नय साधारणतया द्रव्य को ही प्रधान रूप से ग्रहण करते हैं, अतएव इन्हें द्रव्यार्थिकनय कहा गया है।

४. ऋजुसूत्रनय —^२ कभी कभी मानवीय बुद्धि भूत और भविष्यत् के स्वप्नों को ठुकरा कर तात्कालिक लाभालाभ को ही लाभालाभ स्वीकार करती है। भूतकालीन वस्तु विनष्ट हो जाने के कारण असत् है, और भविष्यत्कालीन उत्पन्न न होने के कारण असत् है। उनकी कोई उपयोगिता नहीं। वर्तमानकालीन समृद्धि ही वास्तव में समृद्धि है। जो धन नष्ट हो गया, और भविष्य में मिलेगा, वह क्रोरा स्वप्न है। आज उसकी कोई सत्ता नहीं।

इस प्रकार बुद्धि जब वर्तमान को ही सर्वस्व मानकर चलती है, तो वह वर्तमान बिषयक विचार ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

५. शब्दनय —^३ पूर्वोक्त चार नय वस्तु को प्रधान रख कर विचार करते हैं। अतएव इन्हें अर्थनय कहते हैं। शब्दनय और इससे आगे के समभि-रूढ तथा एवभूतनय शब्द सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते हैं। अत यह तीनों

१. अनुयोगद्वार, नय द्वार, गा० १३७।

२. " " " " " १३८।

३. " " " " " "

शब्दनय कहलाते हैं। शब्दनय पर्यायवाची शब्दों को एकार्थ स्वीकार करता है; मगर उनमें यदि काल, लिंग, कारक, वचन या उपसर्ग की भिन्नता हो तो उन्हें एकार्थक नहीं मानता।

लेखक लिखता है—‘अयोध्या नगरी थी।’ यद्यपि अयोध्या नगरी; लेखक के समय में भी है, फिर भी वह ‘है’ न लिखकर ‘थी’ क्यों लिखता है? इस प्रश्न का उत्तर शब्दनय यह देता है कि कालभेद से अयोध्या नगरी में भी भेद हो जाता है। अतएव लेखक के समय को अयोध्या और है तथा जिस समय की घटना वह लिखता है, उस समय की अयोध्या और थी। इसीलिए लेखक ‘अयोध्या थी,’ ऐसा लिखता है, ‘अयोध्या है’ नहीं लिखता है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार लिंगभेद से भी अर्थभेद हो जाता है यथा, नर और नारी। उपसर्ग का भेद भी अर्थ में भेद उत्पन्न कर देता है। जैसे प्रस्थान-गमन, सस्थान-ग्राकार। अथवा आहार, विहार, प्रसार, परिहार, सहार, नीहार आदि।

इन उदाहरणों के आधार पर कारक और वचन आदि के भेद से वस्तु-भेद हो जाने की कल्पना की जा सकती है।

६ समभिरूढ नय—^१ यह नय शब्दनय से भी एक कदम आगे बढ़कर सूक्ष्म शाब्दिक चिन्तन करता है। कहता है—अगर काल और लिंग आदि की भिन्नता अर्थभेद उत्पन्न कर सकती है तो व्युत्पत्ति (शब्दों की बनावट) के भेद से भी वस्तुभेद क्यों न माना जाय? अतः समभिरूढनय विभिन्न पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक नहीं मानता। इसके मतानुसार सभी कोष मिथ्या ह, क्योंकि एकार्थ बोधक अनेक शब्दों का प्रतिपादन करते हैं। कोष ‘राजा’ ‘नृप’ और ‘भूप’ को एकार्थक बतलाता है, किन्तु इनकी बनावट पर ध्यान दिया जाय तो उनका अर्थभेद स्पष्ट है। राजदण्ड को धारण करने वाला; ‘राजा।’ मनुष्य का पालन करने वाला ‘नृप।’ पृथ्वी का रक्षण करने वाला; ‘भूप’ कहलाता है। अगर ‘नृप’ और ‘भूप’ शब्दों का एक ही अर्थ माना जाय तो मनुष्य और पृथ्वी का अर्थ भी एक हो जाना चाहिए।

वैयाकरणों में ‘शब्दभेदात् अर्थभेद —अर्थभेदात् शब्दभेद’ अर्थात्

शब्द के भेद से अर्थ में और अर्थ के भेद से शब्द में भेद हो जाता है, यह प्रचलित सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है ।

७ एवम्भूतनय—^१ यह नय सूक्ष्मतम शाब्दिक विचार हमारे सामने प्रस्तुत करता है । इसका कथन यह है—यदि व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है तो जब व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किसी वस्तु में घटित हो, तभी उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए और जब वह अर्थ घटित न हो तब उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

एवम्भूतनय समस्त शब्दों को क्रियावाचक ही मानता है । संज्ञावाचक गुणवाचक, भाववाचक अथवा अव्यय आदि के नाम से प्रसिद्ध सभी शब्द क्रियावाची ही हैं । प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का ही बोध होता है । अतएव जब पदार्थ, जैसी क्रिया कर रहा हो, तब उसी क्रिया के वाचक शब्द से उसे अभिहित किया जा सकता है ।

उदाहरणार्थ—“अध्यापक” का अर्थ है, पढ़ाने की क्रिया करने वाला तो जब कोई व्यक्ति यह क्रिया कर रहा है, तो तभी उसे अध्यापक कहा जा सकता है । जब वह खाता, सोता या चलता है, तब अध्यापन-क्रिया नहीं करता और इस कारण उसे अध्यापक भी नहीं कहा जा सकता । अध्यापन क्रिया न करने पर भी यदि उसे अध्यापक कह दिया जाय तो फिर दुकानदारी या रसोईया को भी अध्यापक कहने में क्या हर्ज है ?

इस प्रकार एवम्भूतनय क्रिया को ही शब्दप्रयोग का नियामक मानता है ।

सात नयों के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि नयवाद में अनन्त धर्मों के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक धर्म को प्रधानता देकर कथन किया जाता है । उस समय वस्तु में शेष धर्म विद्यमान तो रहते हैं, मगर वे गौण हो जाते हैं । इस प्रकार सत्य के एक अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही नय है ।

नयों द्वारा प्रदर्शित सत्यांश और प्रमाण द्वारा प्रदर्शित अखण्ड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते हैं ।

जैनागमों में नय सिद्धान्त निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है । अनेक ग्रंथ केवल इसी विषय को समझाने के लिए लिखे गये हैं ।

अनेकान्त

सन्त सस्कृति के प्राणप्रतिष्ठापक और समन्वय सिद्धान्त के प्रणेता श्रमण भगवान् महावीर ने तत्त्व विचार की एक मौलिक और अतिशय दिव्य पद्धति जगत् को प्रदान की। यही नहीं, उन्होंने वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने की एक सापेक्ष भाषा-पद्धति भी दी। उन्होंने बतलाया-“विचार अनेक है, और बहुत बार वे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें भी एक सामजस्य है, अविरोध है, और उसे जो भलीभाँति देख सकता है, वही वास्तव में तत्त्वदर्शी है।”

परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का आधार वस्तु का अनेकधर्मात्मक होना है ?। एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है, उसका स्वरूप उतना ही नहीं है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है, पर वस्तु का स्वरूप असीम है। प्रत्येक वस्तु विराट् है, और अनन्त-अनन्त अणु, धर्मों-गुणों और शक्तियों का पिण्ड है। यह अनन्त अणु उसमें सत् रूप से विद्यमान है। यह वस्तु के सहभावी धर्म कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु द्रव्यशक्ति से नित्य होने पर भी पर्याय शक्ति से क्षण क्षण में परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन (पर्याय) एक दो नहीं, हजार लाख भी नहीं, अनन्त है, और वे भी वस्तु के ही अभिन्न अणु हैं। यह अणु क्रमभावी धर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी पर्यायों का समूह एक वस्तु है। मगर वस्तु का वस्तुत्व इतने में भी समाप्त नहीं होता, वह इससे भी विशाल है।

जैसे सिक्के के दो बाजू होते हैं, और दोनों बाजू मिलकर ही पूरा सिक्का बनता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत्ता और असत्ता दोनों अणुओं के समुदाय से बना है। अभी जिन धर्मों और पर्यायों का उल्लेख किया गया है, वे सब तो सिर्फ सत्ता-अणु हैं। असत्ता अणु इससे भी विराट् है और वह भी वस्तु का अणु ही है।

किसी भी पदार्थ में इतर पदार्थों की अभाव रूप से पाई जाने वाली वृत्ति, वस्तु का असत्ता अणु है।

स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लीजिए। घट आपके सामने है। आप आखो से घट का रूप और आकार ही देख पाते हैं। मगर घट सिर्फ रूप और आकार मात्र नहीं।

आप घट को ऊँचा उठाएंगे तो आपको उसके कुछ अधिक धर्म प्रतीत होंगे, उसका गुस्त्व मालूम होगा, चिकनापन प्रतीत होगा, और भी कुछ मालूम हो सकता है। मगर घट का यह स्वरूप पूरा नहीं होगा।

घट का पूरा स्वरूप समझने के लिए आप किसी तत्व-ज्ञानी की गरण लीजिए। वह आपको बतलाएगा कि घट में जैसे, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियो से प्रतीत होने वाले गुण हैं, उसी प्रकार इन्द्रियो से प्रतीत न होने वाले गुण भी हैं, और ऐसे गुण अनन्त हैं।

अब आपने समझ लिया कि घट में अनन्त गुण विद्यमान हैं। फिर भी क्या एक घट का स्वरूप पूरा हो गया? तत्वज्ञानी कहेगा—“जी नहीं, अभी तो घट का आधा स्वरूप भी आपने नहीं समझा।” घट इससे भी कही विराट् है। यहाँ तक तो घट में सदैव रहने वाले (सहभावी) गुणों की ही बात हुई। मगर घट में अनन्त धर्म ऐसे भी हैं, जो सदैव विद्यमान नहीं रहते, जो उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। ऐसे धर्म क्रमभावी धर्म कहलाते हैं। उन्हें पर्याय भी कहते हैं।

अच्छा घट, अनन्त सहभावी धर्मों और अनन्त क्रमभावी धर्मों का पिण्ड है। यह जान लेने पर तो घट का पूरा स्वरूप जान लिया, कहा जा सकता है।

तत्वज्ञानी कहेगा—“नहीं, यह तो घट की एक ही बाजू है। इसे सत्ता की बाजू समझिए, अभी दूसरी असत्ता की बाजू तो अछूती ही रह गई है।”

वह असत्ता की बाजू क्या है? घट घट है, यह सत्ता की बाजू है, और घट पट नहीं, मुकुट नहीं, गकट नहीं, लकुट नहीं, कट नहीं, घट के सिवाय और कुछ भी नहीं, यह असत्ता की बाजू है। तात्पर्य यह है कि घट में घट से भिन्न जगत के समस्त पदार्थों की असत्ता रूप से जो वृत्ति है, वह भी घट का ही असत्ता रूप स्वभाव है। घटेतर पदार्थ अनन्त हैं, अतएव घट के असत्ता-धर्म भी अनन्त हैं।

इन सद्भाव और अभाव रूप धर्मों को जान लेना ही घट को पूरी तरह जान लेना कहलाता है। यह अनन्त धर्म ज्ञान के बिना नहीं जाने जा सकते। अतएव शास्त्र कहता है “जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एगं जाणइ।” जो एक पदार्थ को जानता है, वह सब को जान लेता है, और जो सब को जानता है, वही एक को जान सकता है।

यद्यपि जगत् मे मूलभूत तत्व दो ही हैं । जीव-चेतनात्मक और अजीव-अचेतनात्मक, किन्तु दोनों ही अपने अपने स्वभाव में, गुणों में और पर्यायों में अनन्तता से सम्पन्न हैं ।

वात कठिन-सी मालूम होती है, मगर सत्य की आत्मा को पूरी तरह समझ लेना सरल नहीं है । फिर भी मनुष्य की दृष्टि सम्पन्न हो, तो दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं से भी वह बहुत कुछ सीख सकता है ।

मिट्टी के एक कण को लीजिए । एक-एक कण में अनन्त-अनन्त स्वभावों का सम्मिश्रण है । उसका एक स्वरूप नहीं, एक आस्वाद नहीं, एक रग-रूप नहीं । एक फुट वर्गाकार भूखड में किसान कभी कडवी तीखी और चरपरी मिर्च बोता है, कभी मधुर ईख बोता है, और कभी संतरे या नीबू का पेड़ लगाता है । यह सभी चीजें मिट्टी के उन कणों में से ही अपना-अपना पोषण, स्वाद, रूप, रग, सब कुछ प्राप्त करती हैं । मिट्टी एक है । खाने में चाहे मिट्टी का स्वाद मिट्टी जैसा है, किन्तु भिन्न बीजों की शक्ति, उसी मिट्टी में से, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वभावानुकूल अभीष्ट तत्व को खींच लेती है । ऐसी स्थिति में अगर कोई कहता है कि मिट्टी कटुक ही है, तो उसका ऐसा कहना असत् व्याख्यान होगा, और यदि कोई यही गाठ बाध कर बैठ जाय कि मिट्टी में एक ही स्वाद होता है, और एक ही रग-रूप होता है, तो यह होगी आग्रह की जडता । यद्यपि यह कथन तत्व के नाते सापेक्ष सत्य हो सकता है, तथापि गुण और पर्याय के नाते वह मिथ्या ही रहेगा ।

यह हुई जड पदार्थ की बात । अब एक चेतन पुरुष के विषय में भी विचार कर लीजिए, एक ही पुरुष के कितने नाते होते हैं ? वह किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, स्वसुर, देवर, जेठ, मामा, भागिनेय, दादा और पोता होता है । न जाने कितने सम्बन्धों का अम्बार उस पर लदा है ? परिवार के बाहर वह दुकानदार है, ग्राहक है, साहूकार है, देनदार है, गुरु है, शिष्य है, किसी सस्था का मंत्री, कोषाध्यक्ष और सभापति है । न जाने क्या-क्या है ? इस प्रकार एक पुरुष अनेक रूपों में हमारे समक्ष आता है । यद्यपि पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं । मगर अपेक्षा भेद उस विरोध का मथन कर देता है । अनेकान्त की खूबी ही यह है कि प्रतीत होने वाले विरोध का वह निवारण कर दे ।

तो जिस प्रकार एक पुरुष में परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले

पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत होते हैं, उन्नी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत्ता-असत्ता, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि धर्म भी विभिन्न अपेक्षाओं से सुसंगत हैं, और उनमें कुछ भी विरोध नहीं है। इस तथ्य को समझ लेना ही अनेकान्तवाद को समझ लेना है।

तत्त्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि अपनाई जाय तो धार्मिक संघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथों की चीकावंदी और सम्प्रदायों का कलह, मानव संस्कृति की आत्मा को आघात नहीं पहुंचा सकता। इससे समत्वदर्शन की परम पूत प्रेरणा को बल मिलता है, और मनुष्य-दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी बनती है।

समाज, नीति, कला और व्यापार के क्षेत्र में और साथ ही घरेलू सम्बन्धों में तो अनेकान्त को स्वीकार करती है। वह एक ऐसी अनिवार्य तत्त्व व्यवस्था है उसे स्वीकार किये बिना एक डग भी नहीं चला जा सकता। फिर भी विस्मय की बात है कि दार्शनिक जगत् उसे सर्वमान्य नहीं कर सका। दार्शनिकों की इससे बड़ी दूसरी कोई दुर्बलता, और असफलता शायद नहीं हो सकती।

कौन है जो पदार्थों का उपयोग करता हुआ, मिट्टी के नानात्व को स्वीकार न करता हो, एक ही मिट्टी घट, ईंट, प्याला आदि नाना रूपों में हमारे व्यवहारों में आती है। आम अपने जीवन काल में अनेक रूप पलटता रहता है। कभी कच्चा, कभी पक्का, कभी हरा और कभी पीला, कभी कठोर और कभी नरम, कभी खट्टा और कभी मीठा होता है। यह उसकी स्थूल अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था नष्ट होकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति में दीर्घ काल की अपेक्षा होती है। मगर उस बीच के दीर्घ काल में क्या वह आम ज्यों का त्यों बना रहता है। और सहसा हरे से पीला तथा खट्टे से मीठा हो जाता है? नहीं, आम प्रतिक्षण अपनी अवस्थाएँ पलटता रहता है। मगर वे क्षण-क्षण पलटने वाली अवस्थाएँ इतने सूक्ष्म अन्तर को लिए हुए होती हैं कि हमारी बुद्धि में नहीं आती। जब वह अन्तर स्थूल हो जाता है तभी बुद्धि-ग्राह्य बनता है।

इस प्रकार असंख्य क्षणों में असंख्य अवस्था-भेदों को धारण करने वाला आम आखिर तक आम ही बना रहता है।

इस तथ्य को जैनदर्शन यों व्यक्त करता है कि—पदार्थ की मूल सत्ता ही, जो एक होने पर भी अनेक रूप धारण करती है, पदार्थ का मूल रूप है—द्रव्य है, और उसके क्षण-क्षण पलटने वाले रूप पर्याय हैं। उसका निष्कर्ष यह

निकला कि प्रत्येक पदार्थ के दो रूप हैं :-अन्तरंग और बहिरंग । अन्तरंग द्रव्य, और बहिरंग रूप पर्याय कहलाता है । पदार्थ का अन्तरंग रूप एक है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है, और बहिरंग रूप अनेक, अनित्य और परिवर्तनशील है ।

द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मों का समन्वित पिण्ड है । चाहे वह जड़ हो या चेतन, नूधम हो या स्थूल, उसमें विरोधी धर्मों का अद्भुत सामंजस्य है । इसी सामंजस्य पर पदार्थ की सत्ता टिकी है । ऐसी स्थिति में वस्तु के किसी एक ही धर्म को अंगीकार करके और दूसरे धर्मों का परित्याग करके वास्तविक वस्तु स्वरूप को आंकने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है, और अपूर्णता में पूर्णता मानकर सन्तोष कर लेना प्रवचनामात्र है ।

अनेकान्तवादी का दृढ़ विश्वास है कि सत् का कभी नाश नहीं होता, और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती । मिट्टी का मूल द्रव्य नवीन बनाया जा सकता है । हा, उसका रूपान्तर स्वतः भी और दूसरो के प्रयोग से भी होता रहता है ।

वस यही द्विविधात्मक पदार्थ की स्थिति है, जिसे ऐकान्तिक आग्रह से नहीं समझा जा सकता ।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विचार में उठे हुए अनेकविध दृष्टिकोणों को समुचित रूप से समन्वित करने की आवश्यकता होती है । उसी आवश्यकता ने नयवाद की विचार सरणि को प्रस्तुत किया है ।

स्याद्वाद

पिछले प्रकरण में अनेकान्तवाद के विषय में विचार किया गया है । पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से वस्तु को समझना और एक ही वस्तु में, विभिन्न दृष्टिकोणों से सगत होने वाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करना अनेकान्तवाद है । साधारण तौर पर अनेकान्त सिद्धान्त ही स्याद्वाद कहलाता है, किन्तु वास्तव में अनेकान्त-सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली सापेक्ष भाषापद्धति ही स्याद्वाद है ।

जब हम मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म विद्यमान हैं और उन समस्त धर्मों का अभिन्न समुदाय ही वस्तु है, तो उसे व्यक्त करने के लिए भाषा की भी आवश्यकता होती है । यह अनेकान्त की भाषा ही स्याद्वाद है ।^१

१ स्याद् इत्यव्ययम् अनेकान्त-द्योतकं, तत स्याद वाद अनेकान्तवादः ।

—स्याद्वाद मञ्जरी, मल्लिषेणसूरि ।

भाषा शब्दों से बनती है, और शब्द धातुओं से बनते हैं। एक धातु भले ही मोटे तौर पर अनेकार्थक मानी जाती हो, परन्तु एक कात में, और एक ही प्रसंग में, वह अनेक अर्थों का धोतन नहीं कर सकती, अतएव उससे बना एक शब्द भी एक ही धर्म का बोध कराता है। हमारे पास कोई एक शब्द नहीं, जो एक साथ अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों का सापेक्षात्मक भाषा से कथन किया जाय। 'घट है' कह कर हम घट के परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकत, क्योंकि इस वाक्य द्वारा घट के केवल अस्तित्व धर्म का ही बोध होता है। घट में अस्तित्व की तरह नास्तित्व आदि जो असह्य धर्म हैं, उनका इससे बोध नहीं होता। अतएव यह वाक्य घट की अधूरी जानकारी देता है। यही नहीं, घट में जो अस्तित्व है, वह भी सर्वथा सत्य नहीं, किन्तु एक दृष्टिकोण से ही है। यह बात भी इस वाक्य से ध्वनित नहीं होती।

प्रश्न होता है कि एक ही शब्द एक धर्म का बोधक होता है, किन्तु वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसका किसी भी एक शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में दो ही वाते हो सकती हैं—या तो एक वस्तु को पूरी तरह कहने के लिए अनन्त शब्दों का प्रयोग किया जाय, अथवा मौन साधकर बैठा जाय। अनन्त शब्दों का प्रयोग करना संभव नहीं है, और मौन साध लेने से जगत् के सब व्यवहार ठप्प हो जाते हैं। फिर अपने अभिप्राय को प्रकट करने का मार्ग क्या है ?

जैन दार्शनिकों ने बहुत विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर दिया है। यहाँ संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि—स्याद्वादी जब वस्तु का अस्तित्व प्रकट करता है तो वह केवल 'अस्ति' (है) न कह कर 'स्यादस्ति' कहता है। 'अस्ति' के साथ 'स्यात्' जोड़ देने से वस्तु में रहे हुए नास्तित्व आदि का निषेध भी नहीं होता और अस्तित्व का विधान भी हो जाता है।

'स्याद्वाद' शब्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दोनों शब्दों के मेल से बना है। 'स्यात्' एक अव्यय है, जिसका अर्थ है—“कथंचित्”—किसी अपेक्षा, अथवा अमुक दृष्टिकोण से। कुछ लोगों को भ्रम है कि 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' है और इस कारण स्याद्वाद सगयवाद है। मगर यह उनका भ्रम है। 'स्याद्वाद' में जो कुछ है, 'निश्चित' है। “यह पिता है अथवा पुत्र है” इस प्रकार अनिर्णीत ज्ञान सशय कहलाता है, मगर “यह व्यक्ति अपने पिता, कर्मचन्द की अपेक्षा से

पुत्र है, और अपने पुत्र देवदास को अपेक्षा से पिता है” इस प्रकार सापेक्ष कथन में सदाय के लिए कोई अवकाश नहीं है।

प्रत्येक वस्तु में अपने निज के स्वरूप से सत्ता है तो पर के रूप से असत्ता भी है। ‘घट घट है’, यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि ‘घट पट नहीं है।’ यहाँ जैसे घटविषयक अस्तित्व घट का ही स्वरूप है, उसी प्रकार पट विषयक नास्तित्व भी घट का ही स्वरूप है अतएव प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् रूप है।

उनी प्रकार घट न एकान्त रूप से नित्य है, और न एकान्त रूप से अनित्य है। द्रव्य के लिहाज से नित्य है, तो पर्याय के लिहाज से अनित्य है।^१

इस प्रकार वस्तु में जितने भी धर्म हैं, सब सापेक्ष हैं। जिसे अपेक्षा से जिस धर्म का विधान किया जाता है, उसी अपेक्षा को सूचित करने के लिए ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इन छोटे-से “स्यात्” अव्यय में अद्भुत चमत्कार भरा है। यह समस्त विरोधियों को नष्ट कर देता है, और हमें सम्पूर्ण सत्य की झाकी दिलाता है।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्तात्मक वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को प्रकट करने के लिए “स्यात्” शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

जब हम वस्तु को नित्य कहते हैं तो हमें किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे उसमें रही हुई अनित्यता का निषेध न हो जाय। इसी प्रकार जब “अनित्य” कहते हैं तब भी ऐसे शब्द का प्रयोग करना उचित है जिससे नित्यता का विरोध न हो जाय। यही बात अन्य धर्मों—सत्ता, असत्ता, एकत्व, अनेकत्व आदि—का कथन करते समय भी समझनी चाहिए। सस्कृत भाषा में ऐसा शब्द “स्यात्” है। “कथञ्चित्” शब्द का भी उसके स्थान पर प्रयोग होता है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर “हा” या “ना” में दिया जाता है। इन्हीं दोनों के आधार पर सप्तभंगी योजना हुई है। वह सात भग यह है —

१ अस्ति—(है)

१ नित्य जीवा अजीवा वा, जेव सन्नं निवेसए ।

अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥

—सूत्रकृताग, अ० २, ५, १२, १३।

२. नास्ति—(नहीं है)
३. अस्तिनास्ति—(है, नहीं है)
४. अवक्तव्य—(नहीं कहा जा सकता)
५. अस्ति अवक्तव्य—(है, नहीं कहा जा सकता)
६. नास्ति अवक्तव्य—(—नहीं है, नहीं कहा जा सकता)
७. अस्ति, नास्ति अवक्तव्य—(—नहीं है, अवक्तव्य है)

१. स्यादस्ति —प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल, और अपने भाव से है ।

२. स्यान्नास्ति —प्रत्येक वस्तु पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नहीं है ।

इन दोनों भगो का आशय यह है कि घट (और समस्त पदार्थ) है तो, अवश्य, परन्तु वह घट मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा से है, जिस जगह है उसी जगह है, जिस काल में है, उसी काल की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से है । वह घट परद्रव्य से नहीं है^१ अर्थात् वह सुवर्ण द्रव्य की अपेक्षा नहीं है—सोने का नहीं है, जहा है उसके सिवाय दूसरी जगह नहीं है, जिस काल में है, उससे भिन्न काल में नहीं है, और जिस रूप में है, उससे भिन्न रूप में नहीं है ।

यह दो भग ही अगले पाचो भगो के आधार है । इन्हीं के सम्मिश्रण से उनका निर्माण हुआ है ।

३ स्यात्, अस्तिनास्ति —इस भग के द्वारा वस्तु का उभयमुखी कथन किया जाता है, अर्थात् यह प्रकट किया जाता है कि वस्तु क्या है, और क्या नहीं है ? प्रथम भग केवल अस्तित्व का और दूसरा भग केवल नास्तित्व का विधान करता है, जब कि यह भग दोनों का विधान करता है ।

४ स्यात्, अवक्तव्य —प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से सदा अवक्तव्य है । उसका परिपूर्ण स्वरूप किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता । किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं जो अनन्त धर्मों का कथन कर सके ।

१ अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया । भगवती,

यही नहीं, पहले और दूसरे भंग में जिन अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया है, उनका भी एक साथ कथन नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिए चौथा भंग है।

५. अस्ति, अवक्तव्य —स्वरूप से सत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप से अवक्तव्य है।

६ नास्ति अवक्तव्य —पर रूप में असत् होते हुए भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

७ अस्तिनास्ति, अवक्तव्य —स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

इस विषय को व्यावहारिक पद्धति से समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया जाता है। आप किसी रोगी की हालत पूछने के लिए गए। आपने पूछा "रोगी का क्या हाल है?" इस प्रश्न का उत्तर सात विकल्पो (भंगों) में यों दिया जा सकता है :—

१. स्वास्थ्य ठीक है (अस्ति)।
२. अभी अवस्था ठीक नहीं (नास्ति)।
३. कल से अब ठीक है, तो भी भय से मुक्त नहीं (अस्तिनास्ति)।
४. कुछ कहा नहीं जा सकता कि हालत ठीक है, या नहीं (अवक्तव्य)।
५. हालत कुछ ठीक है; परन्तु कहा नहीं जा सकता कि आखिर क्या होगा? (अस्ति अवक्तव्य)।
६. हालत ठीक नहीं, नहीं कहा जा सकता कि आखिर क्या होगा (नास्ति अवक्तव्य)।

७. हालत कल से ठीक है, फिर भी ठीक नहीं कही जा सकती। नहीं कह सकते आखिर क्या होगा? (अस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

इस प्रकार वस्तु में रहे हुए प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन हो सकता है। जैसे अस्तित्व धर्म के मातृ भग ऊपर बतलाए गए हैं, उसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों को लेकर भी होते हैं। पूर्वोक्त रीति से उन्हें समझा जा सकता है।

विश्व की विचारधाराएँ एकान्त के कीचड़ में फसी हैं। कोई वस्तु को एकान्त नित्य मानकर चल पड़ा है तो दूसरा एकान्त अनित्यता का समर्थन

कर रहा है। कोई इससे आगे बढ़ा भी तो उसने वस्तु के नित्यानित्य स्वरूप को गडवड़झाला समझ कर अव्याकृत या अवक्तव्य कह कर पिण्ड छुड़ा लिया फिर भी इन सब ने अपने मन्तव्य की पूर्ण सत्यता पर बल दिया, यही संघर्ष का कारण बना।

जैन दर्शन अनेकान्त के रूप में तत्त्वज्ञान की यथार्थ दृष्टि प्रदान कर एक ओर सत्य का दिग्दर्शन करता है, तो दूसरी ओर दार्शनिक जगत् में समन्वय के लिए सुन्दर आधार तैयार करता है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है और उसके प्रत्येक विधान में स्याद्वाद का पुट रहता है^१ सूत्रकृताग सूत्र में निर्देश किया गया है कि साधु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन लेना चाहिए। भगवान् महावीर ने चौदह प्रश्नों के उत्तर, जिन्हें बुद्ध "अव्याकृत" कहते थे, और उपनिषदों के रहस्यपूर्ण गूढप्रश्नों के उत्तर, स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन करके दिये हैं।

भाषा नीति-निक्षेप विधान

जगत् के व्यवहार और ज्ञान के आदान-प्रदान का मुख्य साधन भाषा है। भाषा के बिना मनुष्यों का व्यवहार नहीं चल सकता और न विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है। मनुष्य के पास अगर व्यक्त भाषा का साधन न होता तो उसे आज जो सभ्यता, संस्कृति और तत्त्वज्ञान की अमूल्य निधि प्राप्त हुई है, उसकी कल्पना करना भी अशक्य होता व मनुष्य और पशु में अधिक अन्तर न रह जाता।

भाषा केवल बोलने का ही साधन नहीं, अपितु विचार करने का भी माध्यम है। जन्मगत परिपुष्ट भाषा, जो हमारे अन्तःकरण में सुदृढता से स्थित हो जाती है, उसी में हम चिन्तन-मनन करते हैं।

भाषा का शरीर वाक्यों से निर्मित होता है और वाक्य शब्दों से। प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त हुआ शब्द, प्रसंग, आशय, विषय, स्थान, अवसर और वातावरण के अनुसार कितने ही प्रकार के अभिप्रायों को अभिव्यक्त करता है। अतएव शब्द के मूल और उचित अर्थ

को जानने के ढंग जैनागमों में निश्चित किये गये हैं। शब्दों की मार्मिकता, लाक्षणिकता, प्राञ्जलता और अभिव्यजनागणित का विस्तृत विवेचन व्याकरण और साहित्य विषयक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ठीक तरह कैसे ज्ञान किया जाय, इसके लिए जैनधर्म में निक्षेप का विधान किया गया है। निक्षेप का सामान्य अर्थ है—निक्षेपण करना, या रखना। भगवान् महावीर कहते हैं कि शब्द के विवक्षित अर्थ को जानने के लिए अनेको प्रकार के निक्षेपो का विधान हो सकता है, किन्तु कम-से-कम चार निक्षेपो से काम चल सकता है, क्योंकि, प्रत्येक शब्द कम-से-कम चार अर्थों में तो प्रयुक्त होता ही है।

वक्ता या लेखक, शब्द को प्रायः चार प्रकार के अर्थों के लिए प्रयुक्त करता है—नाम, स्थापना, द्रव्य अथवा भाव^१। इन चार अर्थों में से शब्द को वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थों में निक्षेपण करना ही निक्षेप कहलाता है। भाषा के प्रत्येक शब्द पर उन्हें घटित किया जा सकता है यहाँ “राजा” शब्द को ही लीजिए।

१. नामनिक्षेपः—माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम “राजा” रख दिया। वास्तव में वह राज्य का उपभोग नहीं करता, यहाँ तक कि राजतन्त्र का विरोधी है, उसमें राजा के योग्य गुण भी नहीं हैं, फिर भी वह राजा कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को जब राजा कहा जाता है तो वह नाम निक्षेप से राजा कहलाता है।

नामनिक्षेप में वस्तु के गुण-धर्म का विचार नहीं किया जाता, केवल लोकव्यवहार की सुविधा के लिए शब्द रूढ़ कर लिया जाता है। इस कारण “राजा” नाम वाला पुरुष राजा शब्द के पर्यायवाचक नृपति, भूपति, नरेश आदि शब्दों द्वारा अभिहित नहीं किया जाता।

नाम-शब्द तीन प्रकार के होते हैं—

१ यथार्थ नाम, जैसे जल में उत्पन्न होने के कारण ‘जलज’ चैतन्यवान होने के कारण ‘चेतन’ आदि नाम।

२ अयथार्थ—जैसे अन्वे का नाम नयन सुख अथवा हीराचन्द्र, मोती-चन्द्र आदि।

३ अर्थ गून्व नाम, जैसे वाद्यध्वनि, खासी, छीक आदि ।

२. स्थापनानिक्षेप—किसी वस्तु म अन्य वस्तु का आरोप करना स्थापनानिक्षेप है । जैसे—राजा की मूर्ति या उसका चित्र भी राजा कहलाता है । यद्यपि उम मूर्ति या चित्र मे राजा का कोई गुण नही है, तथापि उममे राजा का आरोप किया जाता है जब कोई राजा की मूर्ति को राजा कहता है तो समझना चाहिए कि वह स्थापना निक्षेप है ।

स्थापनानिक्षेप के लिए प्राचीन युग मे काष्ठ, मृत्तिका, वस्त्र, प्रस्तर पत्र आदि पर चित्र बना कर अथवा अन्य प्रकार से किसी एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता था । आज भी मूर्ति या स्टैचु आदि बनाये जाते हैं ।

३ द्रव्यनिक्षेपः—जो पहले राजा था, अथवा भविष्य मे राजा बनने वाला है, वर्तमान मे नही है, उसे भी राजा शब्द से व्यवहृत किया जाता है । इस प्रकार भूतकालीन या भविष्यत्कालीन पर्याय का वर्तमान मे आरोप करना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है ।

४ भावनिक्षेपः—जो मनुष्य राज्य कर रहा है, वह भी राजा कहलाता है । इस प्रकार वर्तमान पर्याय को लक्ष्य में रखकर जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसे भावनिक्षेप कहते हैं । जब व्युत्पत्तिनिमित्त अथवा प्रवृत्तिनिमित्त से वर्तमान मे पूरा अर्थ घटित होता है, तभी वह भावनिक्षेप कहा जा सकता है ।

अप्रकृत अप्रस्तुत और अविवक्षित अर्थ का निराकरण करके प्रकृत प्रस्तुत, और विवक्षित अर्थ का विधान करना निक्षेपविधि का प्रयोजन है ।

जहा कहीं, “महावीर” शब्द आया कि आप भगवान् महावीर को ही समझ ले तो बहुत वार अनर्थ होने की सम्भावना है । इस अनर्थ से बचने के लिए अगर आप निक्षेपविधि से “महावीर” शब्द का विश्लेषण कर डालें, और समझ लें कि वक्ता का नाम—महावीर, स्थापना-महावीर, द्रव्य महावीर, और भाव महावीर मे से किस महावीर से अभिप्राय है, तो आप सही अभिप्राय समझ सकेंगे, और अनर्थ से बच जाएंगे । इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रो मे निक्षेपो का विधान किया गया है ।

स्मरण रहे कि चारो निक्षेपो मे से भावनिक्षेप को ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक स्वीकार किया गया है ।

एगप्प अजिए सत्तू कसाया इन्द्रियाणि य ।
 ते जिणित्ता जहा नायं, विहरामि अहं सुणी ॥
 मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
 तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिक्खाइ कन्थगं ॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३८-५८ ।

हे महा मुने ! मन एक दुर्जय शत्रु है, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कपाय तथा श्रोत, चक्षु, प्राण, रस और स्पर्श ये पाञ्चो इन्द्रिया मिलकर दस शत्रु बनते हैं । इन्हे मैंने ठीक रूप से जीत लिया है अतः आनन्द में विचरता हूँ ।

हे साधक ! मन बहुत ही साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है, जो चारों ओर दौड़ता है । मैं इस अश्व को धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबू करता हूँ ।

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान

इन्द्रियां

प्राणी काम और भोग का आयतन है। काम मूर्त और अरूपी है, किन्तु भोग, रूपी और अरूपी दोनों प्रकार का होता है। काम, कामना और स्पृहा का अस्तित्व जीव में ही उपलब्ध होता है। जड से जीव की भिन्नता काम से भी पाई जाती है, क्योंकि काम का अस्तित्व जीव में ही है, अजीव में नहीं होता। जीव ही कामी और भोगी बन सकता है, अजीव नहीं। काम के दो रूप हैं, रूप और शब्द। मनोज रूप और मधुर शब्दों की लालसा ही काम है। यद्यपि रूप और शब्द दोनों ही पौद्गलिक परिवर्तित पर्याय हैं, और भोग तीन प्रकार का होता है। १ गंध, २ रस, ३ स्पर्श।

काम और भोग में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भोग सयोग की अपेक्षा रखता है। गंध, रस और स्पर्श के सयोग हुए बिना भोग का कारण नहीं बन सकते, किन्तु रूप और शब्द में सयोग की अधिक अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि शास्त्रकारों ने शब्द को भी भोग के अन्दर ही गिना है, क्योंकि शब्दों का सयोग कर्णेंद्रिय के साथ हुए बिना शब्द का आनन्द नहीं लिया जा सकता, किन्तु सूक्ष्मता के कारण उसे काम में भी गिन लिया जाता है। हा, पाँचों इन्द्रियों में से नेत्र इन्द्रिय को कुछ भिन्न प्रकार का माना गया है, क्योंकि नेत्र वस्तु के ससर्ग

की अपेक्षा प्रकाश तथा रंग के सहारे ही वस्तु-दर्शन की ज्ञानानुभूति कर लेती है।

काम भोग केवल पाँच ही प्रकार का है, अतः इन्हें ही पाँच इन्द्रिया कहा जाता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय रूप से इन्द्रियों के दश भेद माने गए हैं, और बौद्ध साहित्य में इन्द्रियों के २२ भेद गिनाए गए हैं, किन्तु जैन धर्म इन सभी प्रकार के इन्द्रिय भेदों का पाँचों इन्द्रियों में समावेश कर देता है। जैसे कि पाँचों कर्मेन्द्रियों को, (वाक्, पाणि, पाद पायु और उपस्थ) स्पर्शेन्द्रिय का ही अवान्तर भेद मान लिया गया है, क्योंकि इन का मूलाधार त्वग् इन्द्रिय माना गया है। त्वचा ज्ञान तन्तु अर्थात् छोटे-छोटे छिद्र स्पर्श का संवेदन करते हैं, और छिद्रों तथा रोम कूपों के द्वारा त्वचा के ज्ञान तन्तु वस्तु के स्पर्श का अनुभव कर लेते हैं। अतः वाक्-पाणि आदि शरीर के अवयवों को पृथक् इन्द्रिय मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इन्द्रियों का द्रव्यरूप मूर्त है, और आत्मा सर्वथा अमूर्त।

अमूर्त होने के कारण हमें आत्मा की साक्षात् उपलब्धि नहीं होती। फिर भी जिन साधनों से हम आत्मा को जानते हैं, वही साधन 'इन्द्रियाँ' हैं। एक शरीर को देखते ही हम पहचान लेते हैं कि यह निर्जीव है, और दूसरे पर दृष्टि पड़ते ही हमें ज्ञान हो जाता है कि यह सजीव है। निर्जीव कलेवर में भी इन्द्रियाँ बनी होती हैं, मगर वे अपना कार्य नहीं करती, जब कि सजीव शरीर में सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। कान सुनते हैं, आँख देखती है, नाक सूँघती है, हाथ-पैर हिलते हैं। इन्द्रियों का यह व्यापार आत्मा के अस्तित्व का परिचायक है।

इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व की परिचायक नहीं, आत्मा के द्वारा होने वाले संवेदन का साधन भी हैं। यद्यपि आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान दर्शनपुञ्ज है, तथापि आवरणों के कारण इतना निर्बल बन गया है कि उसे इन्द्रियों का अवलम्बन लेना पड़ता है। अतएव आत्मा की रूपादिविषयक उपलब्धि का साधन भी इन्द्रियाँ ही हैं।

१ इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) श्रोत्र, (२) चक्षु, (३) घ्राण, (४) रसना और (५) स्पर्शन।

जैन तर्कशास्त्र में इन्द्रियों की न्यूनाधिक सख्या का निरसन किया गया है, और भली-भाँति सिद्ध किया गया है कि यह पाँचो इन्द्रियाँ परस्पर कथञ्चित् भिन्न-भिन्न हैं, और आत्मा के साथ भी इनका कथञ्चित् भेद और अभेद ही है ।

पाचो इन्द्रिया दो-दो प्रकार की है^१—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । इन्द्रियों का बाह्य पौद्गलिक रूप द्रव्येन्द्रिय कहलाता है, और आन्तरिक चिन्मय रूप भावेन्द्रिय ।

द्रव्येन्द्रिय के भी दो भाग है^२ 'निवृत्ति' अर्थात् इन्द्रियों की विविध आकार की रचना, और 'उपकरण' अर्थात् संवेदन में सहायक स्वच्छ पुद्गलो की शक्ति । यो तो जैनाचार्यों ने इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी काफी गहन विचार प्रदर्शित किए हैं और निवृत्ति-इन्द्रिय का भी बाह्य निवृत्ति और आन्तरिक निवृत्ति के रूप में विश्लेषण किया है, परन्तु हम यहाँ उस गहराई में नहीं उतरना चाहते ।

आत्मा की संवेदनात्मक शक्ति और संवेदना का व्यापार भावेन्द्रिय हैं, जिसे क्रमशः लब्धि और उपयोग का नाम दिया गया है ।^३ आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली शक्ति लब्धि भावेन्द्रिय है, और उस शक्ति का व्यापृत होना उपयोगभावेन्द्रिय है ।

नेत्र इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों से कुछ भिन्न प्रकार की है । चार इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों के अर्थात् अपने-अपने विषय के ससर्ग से उत्तेजित होकर अपने बाह्य विषय को ग्रहण करती हैं, किन्तु नेत्र को ससर्ग की आवश्यकता नहीं होती । वह प्रकाश एव रंग के आधार से ही संवेदन करती है । इस प्रकार चार इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी' और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी^४ हैं ।

इन्द्रियों के विषय —^५श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है । शब्द तीन प्रकार का माना गया है—जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्रशब्द ।

शब्द^६ एक प्रकार के पुद्गल परमाणुओं का कार्य है । वह परमाणु

१. प्रज्ञापनासूत्र इन्द्रियपद १५वा । २ प्रज्ञापना, इन्द्रियपद १५वा ।

३ प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद, १५वा । ४ तत्वार्थ सूत्र, ११९ ।

५ प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद ११९ । ६ प्रज्ञापना सूत्र भाषापद ११९

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। जब वक्ता बोलता है, तो वे पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं और एक ही समय में लोक अन्तिम छोर तक पहुँच जाते हैं। उसकी गति का वेग हमारी कल्पना से भी बाहर है।

जमीन पर बनी पगडडियों की तरह आकाश में भी श्रेणियाँ हैं, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर और नीचे की ओर फैली हैं। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द इन श्रेणी रूप मार्गों से फैलता है।

श्रोता यदि समश्रेणी में स्थित हो तो भी वह कोरे वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द नहीं सुनता, बल्कि वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-द्रव्यो तथा उन शब्दद्रव्यो से वासित हुए बीच के शब्द द्रव्यो के सघर्ष से उत्पन्न मिश्रशब्दो को सुनता है।

भिन्न श्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्द भी नहीं सुन पाता। वह उच्चारित मूल शब्दो द्वारा वासित शब्द ही सुन सकता है।

वक्ता द्वारा उच्चारित या भेरी आदि से उत्पन्न शब्दो के सघर्ष से बीच में स्थित भाषावर्णना के पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। वे वासित शब्द कहलाते हैं।

विश्रेणी में दूनरे-तीसरे समय में ही शब्द सुनाई देता है पर जैन मान्यता के अनुसार बोला हुआ शब्द दूसरे समय में सुनने योग्य नहीं रह जाता। इससे अनुमान होता है कि विश्रेणी में सुनाई देने वाले शब्द वक्ता द्वारा उच्चारित मूल शब्द नहीं हैं, वरन् उम शब्द द्वारा वे शब्द रूप में परिणत किए हुए दूसरे ही शब्द हैं।

जल में पत्थर डालने से एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर अन्य लहरों को उत्पन्न करती हुई जलाशय के अन्त तक जा पहुँचती है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषाद्रव्य अग्रसर होता हुआ आकाश में स्थित अन्यान्य भाषायोग्य पुद्गलो को भाषा के रूप में परिणत करता हुआ लोकान्त तक चला जाता है। लोकान्त में पहुँचते ही उसकी श्राव्य-शक्ति समाप्त हो जाती है; परन्तु अन्यान्य भाषाद्रव्यो को शब्द रूप में परिणत कर देता है और वे नवीन उत्पन्न हुए शब्द, मूल तथा मिश्र शब्दो की प्रेरणा से गतिमान् होकर विश्रेणियों की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार सिर्फ चार समयों में सम्पूर्ण लोकआकाश इन शब्दो में व्याप्त हो जाता है। (विशेष जानकारी के लिए देखिए—प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद)।

चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है। रूप काला, नीला, पीला, लाल और ज्वन—गान् अन्तर है। शेष सब रूप इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं।

गन्धसंवेदन का अनुभव नासिका द्वारा प्राप्त होता है। जब वायु के साथ रासायनिक गंध कण नासिका में प्रविष्ट होते हैं तो वह घ्राण के रोम कूपों को उत्तेजित करते हैं। उनकी उत्तेजना से आत्मा को प्राण अनुभव होता है। यदि नासिका के दोनों पुट बंद कर दिये जाए, तो गंध की अनुभूति नहीं होती, इससे साफ जाहिर है कि आत्मा को गंध संवेदन घ्राण द्वारा ही होता है। यद्यपि गंधसंवेदन अनेक प्रकार के होते हैं तथापि उन सब का समावेश सुगंध और दुर्गंध में ही हो जाता है।

रस का संवेदन रसना से होता है। रसना या जीभ तरल पदार्थ अथवा लार-मिश्रित पदार्थ के सम्पर्क से जब उत्तेजित हो उठती है, तभी वह अपने ज्ञानतनुओं द्वारा रस-संवेदना उत्पन्न करती है।

रस पाच प्रकार का है। अम्ल, मधुर, कटुक, कषायला और तीक्ष्ण। अतएव रस-संवेदन भी पाच ही प्रकार का माना गया है।

स्पर्शानुभूति में स्पर्शन इन्द्रिय निमित्त होती है स्पर्शेन्द्रिय का द्रव्यरूप समग्र त्वचा है। आठ प्रकार के स्पर्श ही इस इन्द्रिय के विषय हैं, जो इस प्रकार हैं—उष्ण, रूक्ष, गीत, चिक्कण, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल।

मन

मानव जीवन में मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मा के उत्थान और पतन का भी वह प्रधान कारण है। इसीलिए विभिन्न आध्यात्मिक परम्पराएँ भी एक स्वर से मनोविजय की अनिवार्य आवश्यकता उद्घोषित करती हैं, और साथ ही मनोविजय को दुश्शक्य कार्य स्वीकार करती हैं। गीता में श्रीकृष्ण स्वीकार करते हैं कि मन बड़ा बलशाली है, और जैसे हवा पर काबू पाना सरल नहीं, उसी प्रकार मन पर काबू पाना भी हसी-खेल नहीं। उत्तराध्ययन, अध्याय २३, गाथा ५८ में इन्द्रभूति गीतम जैसे महाश्रमण भी मन को साहसी, भयानक और दुष्ट अश्व के समान बतलाकर वही बात कहते हैं।

वास्तव में मन बड़ा जबरदस्त है। वह बड़े-बड़े योगियों को भी ऐसा नाच नचाता है, जैसे मदारी बन्दर को। कितने ही साधक मन पर नियंत्रण पाने के लिए अरण्यवास अंगीकार करते हैं, परन्तु मन क्षण भर में उन्हें विलासमय राजप्रासाद में लाकर खड़ा कर देता है, और अरण्य में साधक का सिर्फ कलेवर ही रह जाता है। कोई-कोई साधक उसे जीतने के लिए कटकगय्या अंगीकार करते हैं, परन्तु मन उन्हें सुखद और सुकोमल सेज पर पौढा देता है। कटक-

शय्या पर उनकी लाश ही धरी रहती है। साधक चाहता है कि मैं साम्यभाव के सरोवर में अवगाहन करूँ, मगर मन उसे राग-द्वेष के कीचड़ में फसा देता है।

मन में अद्भुत मोहिनी शक्ति है। जो उसे नियंत्रित करना चाहता है, उसी को वह अपने नियंत्रण में ले लेता है, और उस पर मनचाहा शासन करता है।

इस प्रकार मन अपरिमित बलशाली है। फिर भी गौतम स्वामी कहते हैं—‘मन दुर्जय होने पर भी अजेय नहीं। वह धर्मशिक्षाओं के प्रयोग द्वारा जीता जा सकता है।’ शास्त्र में वैराग्य और अभ्यास के द्वारा उसके विजय की शक्यता स्वीकार की है।

प्रश्न होता है—‘जिसके सामने बड़े-बड़े पहुँचे हुए योगी भी नतमस्तक हो जाते हैं, और हार मान बैठते हैं, परन्तु जिस पर विजय प्राप्त किये बिना साधक की गाड़ी-अगाड़ी नहीं बढ़ सकती, वह मन क्या है?’

इन्द्रियो की भाँति मन भी आत्मा के सवेदन का एक साधन है। पर वह इन्द्रिय नहीं, अनिन्द्रिय अथवा नोइन्द्रिय कहलाता है। इन्द्रिया अपने-अपने नियत विषय को गोचर करती है, जैसे श्रोत्र शब्द सुनता है, आँख रूप को ही और नाक गंध को ही ग्रहण करती है, परन्तु मन सर्वार्थग्राहक है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि सभी विषयों में और साथ ही अमूर्त पदार्थों में भी प्रवृत्ति करता है। इन्द्रियो द्वारा सीमित क्षेत्र में ही विषय की उपलब्धि हो सकती है, परन्तु मन के लिए क्षेत्र की कोई मर्यादा नियत नहीं है। वह क्षण भर में स्वर्ग, नरक आदि अखिल विश्व का चक्कर काट आता है।

भगवान् महावीर ने कहा—‘हे गौतम ! मन जड़ भी है और चेतन भी है। मन के दो रूप हैं—पौद्गलिक और चैतन्यमय। पौद्गलिक मन द्रव्यमन कहलाता है, और चैतन्यमय मन भावमन। द्रव्य मन विचार करने में सहायक होने वाले विशेष प्रकार के पुद्गल परमाणुओं की रचना-विशेष है, और उन परमाणुओं में प्रवाहित होने वाली आत्मा की चैतन्यधारा भाव मन कहलाती है। अर्थात् मनोवर्गणा के पुद्गलो से बना हुआ तत्त्वविशेष द्रव्य मन है, और आत्मा की चिन्तन-मनन रूप शक्ति भावमन है।

द्रव्यमन और भावमन दोनों मिलकर ही अपना चिन्तन कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। विचार करना, स्मरण करना, सोचना, योजना करना, इच्छा करना, स्नेह करना, घृणा करना, मनन-चिन्तन और विश्लेषण आदि करना, ये सब मानसिक व्यापार हैं, और उभयात्मक मन की सहायता से ही यह सम्पन्न होते हैं।

जैनागमों में मन के आवार पर भी प्राणियों का अमनस्क (असंज्ञी) और समनस्क (संज्ञी) के रूप में वर्गीकरण किया गया है।^१ ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेपणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता जिसमें होती है उसे शास्त्रकार संज्ञी कहते हैं, और इनके अभाव में जीव को असंज्ञी कहा जाता है। एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव अमनस्क होते हैं। पचेन्द्रिय जीवों में कोई-कोई समनस्क, और कोई-कोई अमनस्क होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भावमन आत्मा की ही एक शक्ति होने के कारण सभी प्राणियों को प्राप्त रहता है, मगर द्रव्यमन के अभाव में उसका उपयोग नहीं हो सकता।

भावमन को अगर विद्युत् मान लिया जाय, तो द्रव्यमन को विजली का लट्टू माना जा सकता है। विद्युत् का संचार होनेपर भी जैसे लट्टू के अभाव में प्रकाश नहीं होता, उन्हीं प्रकार भावमन की विद्यमानता में भी द्रव्यमन के अभाव में चिन्तन आदि मनोव्यापार नहीं होते।

शरीर का राजा, और आत्मा का मंत्री होने के कारण मन कभी-कभी आत्मा को मोह में फसा लेता है, और इधर-उधर भटकाता है, मगर वही मन जब वशीभूत हो जाता है, तो एकाग्रता के लाभ में सहायक बनता है तथा मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान का कारण बन जाता है।

जैसा कि उत्तराध्ययन में कहा है, 'मन को वशीभूत करने लिए धर्मशिक्षा की आवश्यकता है।' गीता कथित 'अभ्यास और वैराग्य' भी इसी के अन्तर्गत हैं।

'मन का निग्रह करने से क्या लाभ होता है?' गौतम स्वामी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा था^२—मनोनिग्रह से पाचो इन्द्रिया वशीभूत हो जाती हैं, विषय वासना का उन्मूलन हो जाता है, और चंचलता नष्ट हो जाती है। मनोविजेता मुमुक्षु को एकान्तसमाधि अथवा एकाग्रता का अपूर्व लाभ होता है।

लेश्या

भारतीय तत्त्वगवेपकों ने मनोविज्ञान का—मानसिक विचारों, परिणामों, वृत्तियों और चंचलताओं का बहुत ऊँचे धरातल पर सर्वाङ्गीण विश्लेषण किया

१ नन्दि सूत्र, सूत्र ४०।

२. उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३६।

है। जैनतत्त्व चिन्तको की उस विवेचन एवं विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण देन है। जैन-शास्त्रों में लेख्या का जो विवेचन है, वह पुरातन कालीन मनोविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक अध्याय है, जो आज के मानस-शास्त्रियों के लिए बड़ा रुचिकर और बोधप्रद है। लेख्या का यह विवेचन हजारों वर्ष पहले तब लिपिवद्ध हो चुका है, जब आज के मनोविज्ञान का जन्म ही नहीं हुआ था।

लेख्या-विचार में यह देखा जाता है कि मानसिक वृत्तियों का कैसा वर्ण होता है? मनोविचारों को कितने वर्गों में बाटा जा सकता है। मनो-विचारों का उद्गमस्थल क्या है? उनमें वर्ण आता कहा से है? आदि-आदि।

मन के विचारों में किसी-न-किसी प्रकार का वर्ण होता है, क्योंकि मानसिक चञ्चल लहरिया पुद्गलों से सम्मिश्रित होती है और पुद्गल मूर्त्त हैं। वैचारिक समूह का द्रव्य रूप पुद्गलमय होता है। जैसे विचार वैसा वर्ण और जैसा-जैसा विचार वैसे-वैसे पुद्गल का आकर्षण।

प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले मन के अध्यवसाय असंख्य हैं। कभी वह शुद्ध शुभ्र श्वेत होते हैं, तो कभी एकदम काले और कभी मिश्रित होते हैं। जैनधर्म की परिभाषा वे वह मानसिक, वाचिक और कायिक परिणमन 'लेख्या' कहलाते हैं। (आवश्यक चूर्णों)

स्फटिक स्वरूपतः उज्ज्वल होता है, परन्तु उसके निकट जिस वर्ण के पुष्प रख दिये जाते हैं, स्फटिक उसी वर्ण का प्रतिभासित होने लगता है। आत्मा भी स्फटिक के समान ही उज्ज्वल और निर्मल है। मगर आत्मा के पास जिस वर्ण के परिणाम होंगे, वह उसी वर्णवाली प्रतिभाति होने लगेगी।

यद्यपि साधारण तौर पर लेख्या का अर्थ मनोवृत्ति, विचार या तरंग हो सकता है, किन्तु आचार्यों ने कर्मश्लेष के कारण भूत शुभाशुभ परिणामों को ही लेख्या कहा है। कोई-कोई आचार्य उसे योग के अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। मगर यह असदिग्ध है कि द्रव्य लेख्या पौद्गलिक है।

लेख्याओं के वर्ण मन में उठने वाले शुभाशुभ परिणामों के द्योतक हैं। यद्यपि परिणाम असंख्य हैं, अतएव उनके सूक्ष्म तारतम्य के आधार पर लेख्याओं के भी असंख्य विकल्प हो सकते हैं, किन्तु उन्हें मोटे तौर पर छ. भागों में विभक्त कर दिया गया है। इन छ. भागों की तरतमता दिखलाने के लिए एक जैनागम-प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए :—

छह पुरुष जामुन खाने चले। फलों से लदे जामुन वृक्ष को देखकर

उनमें से एक ने कहा—‘लो भाई, यह रहा जामुन का पेड़ । वस, इसे धरा-शायी कर दे और मनचाहे फल खाए ।’

दूसरे ने कहा—‘वृक्ष को काटने से क्या लाभ है ? इसकी मोटी-मोटी शाखाएँ ही काट लो ।’

तीसरा—‘शाखाओं को काटने की भी क्या आवश्यकता है ? टहनियाँ काट लेना ही काफी होगा ।’

चौथा—‘अरे भाई, फलों के गुच्छे ही तोड़ लो न ।’

पांचवा—‘हमें तो पके जामुन चाहिए । वही क्यों न तोड़े ।’

छठा—‘मुझे तुम लोगो की एक भी बात नहीं जची । जब हमें पके फल ही चाहिए तो फिर नीचे गिरे हुए ही बीन-बीन कर क्यों नहीं खा लेते । व्यर्थ वृक्ष को, डालियो, टहनियो या गुच्छो को काटने-तोड़ने की क्या आवश्यकता है?’

विचारो के शुभत्व-अशुभत्व का तारतम्य इस उदाहरण से समझा जा सकता है । इसी तारतम्य के आधार पर लेश्याओं का छह प्रकारो में वर्गीकरण किया गया है । छह लेश्याएँ यह हैं —

- | | |
|------------------|------------------|
| १. कृष्णलेश्या, | २ नील लेश्या, |
| ३. कापोत लेश्या, | ४ तेजो लेश्या, |
| ५ पद्मलेश्या, | ६ शुक्ल लेश्या । |

लेश्या के संबन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—

१ कृष्ण लेश्या —^१‘हे गोयमा ! कृष्ण लेश्या मनोवृत्ति का निकृष्टतम रूप है । कृष्ण लेश्या वाले के विचार अत्यन्त क्षुद्र, क्रूर, कठोर, और नृगस होते हैं । वह अहिंसा आदि व्रतो से घृणा करता है । तीव्रभाव से पापाचरण करता है, अविचारी, अविवेकी, भोग-विलासरत, इह लोक-परलोक की परवाह न करने वाला, अतीव स्वार्थी और अपने क्षुद्र आनन्द के लिए जगत् में प्रलय ला देने वाला होता है ।

२ नील लेश्या —^२‘हे गोयमा ! कृष्ण लेश्या वाले की अपेक्षा नील लेश्या वाले की मनोवृत्ति कुछ अच्छी होती है, किन्तु वह ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, पापाचारी, लोलुप, अपने सुख का गवेषक, विषयी, हिमाकर्मी

१ उत्तराध्ययन अ० ३४, गा० २१, २२,

२ ” आ० ३४, गा० २३, २४ ।

और क्षुद्र होता है। मगर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के संरक्षण का गुण उन्में होता है।'

३. कापोत लेश्या—^१ 'इस लेश्या वाला हे गौतम ! मन वाणी और कार्य से बक्र होता है। मिथ्यादृष्टि, अपने दोषों को ढाकने वाला और परुषभापी होता है, मगर अपने स्वार्थ के लिए पशुओं का भी संरक्षण करता है।'

४ तेजोलेश्या—^२ गौतम ! इस लेश्या वाला पुरुष पवित्र, नम्र, अचपल, दयालु, विनीत, इन्द्रिय जयी, पाप-भीरु और आत्मसाधना की आकांक्षा रखने वाला होता है। वह अपने सुख की ही अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु दूसरों के प्रति भी उदार होता है।'

५. पद्मलेश्या—^३ 'गौतम ! पद्म लेश्या वाले की मनोवृत्ति धर्मध्यान और गुणध्यान में विचरण करती है। वह पुरुष कमल के समान अपनी मुद्रा से दूसरों को आनन्दित करता है। समय का उत्कृष्ट साधक, कषायों के अधिकांश पर विजय पाने वाला, मितभापी, जितेन्द्रिय और सौम्य होता है।'

६ शुक्ल लेश्या—^४ 'हे गौतम ! यह मनोवृत्ति अत्यन्त विशुद्ध होती है। शुक्ल लेश्या वाला पुरुष समदर्शी, निर्विकल्प ध्यानी, प्रशान्त अन्तःकरण वाला, समिति-गुप्ति से युक्त अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान और अशुभ प्रवृत्ति से दूर, सम्पूर्ण प्राणी-सृष्टि पर प्रेमामृत बरसाने वाला, और वीतराग होता है।'

लेश्याओं द्वारा विचारों का शुभ-अशुभभाव बताकर प्रारम्भ की तीन लेश्याओं को त्याज्य और अन्तिम तीन लेश्याओं को उपादेय कहा है।^५ पहली तीन, पाप-लेश्याएँ या अधर्म-लेश्याएँ हैं। अन्त की तीन, शुभ या धर्म-लेश्याएँ कहलाती हैं। अन्तिम शुक्ल लेश्या आत्मविकास की अनिवार्य गर्त है। अगर मनुष्य की विचारधारा, क्षुद्र, शुभ्रतर और शुभ्रतम की ओर चल पड़े तो मनुष्य अपनी आत्मा का शीघ्र ही कल्याण कर सकता है और विष्वगान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकता है।

१	उत्तराध्ययन,	अ०	३४,	गा०	२५, २६,
२.	"	"	"	"	२७, २८,
३	"	"	"	"	२९, ३०,
४	"	"	"	"	३१, ३२,
५.	"	"	"	"	५६, ५७

जैन धर्म में कषाय और लेश्या का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है, द्रव्य और भाव रूप से लेश्या और कषाय के वर्णन में पास्परिक सामञ्जस्य इस प्रकार हो गया कि दोनों को पृथक् करना दुष्कर बन गया है। फिर भी उदाहरण के द्वारा जैनाचार्यों ने उसे इस प्रकार समझाया है कि जैसे पित्त के प्रकोप में क्रोध भडक उठता है उसी प्रकार लेश्या के द्रव्य, कषायों को उत्तेजित करते हैं। परिणामो, विचारो तथा मानसिक उद्वेगो को लेश्या द्वारा रग, गध, रम तथा स्पर्ग आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। जैसे कृष्ण लेश्या में काजल जैसा रग होता है, नील लेश्या में मोर की गर्दन जैसा नीला रग रहता है, कापोत लेश्या में कबूतर जैसा, तेजोलेश्या में मनुष्य रक्त जैसा, पद्म लेश्या में चम्पा के फूल जैसा, तथा शुक्ल लेश्या में चन्द्रमा जैसा रग रहता है। इसी प्रकार रसास्वाद में भी अन्तर होता है। कृष्ण लेश्या वाले पुरुष को कडवी लूम्बी जैसा, नील वाले को मिर्च, कपोत वाले को दाडिम, तेजो वाले को पके हुए आम, पद्म वाले को इक्षु रस, और शुक्ल लेश्या वाले को मिश्री जैसा आस्वाद अनुभव होता है। उसी प्रकार लेश्याओं में सुगंध और दुर्गन्ध का भी सहभाव पाया जाता है। लेश्या के पुद्गलो का स्पर्श अप्रशस्त तीन का कर्कश, और प्रशस्त तीन का नवनीत जैसा कोमल होता है।

जैनाचार्यों ने लेश्या और कषाय द्वारा मनोमय वैचारिक जगत् का विलक्षण वर्णन किया है, आधुनिक विज्ञान में जो रग विज्ञान के द्वारा मानसिक रुचि का परिज्ञान किया जाता है, किन्तु भगवान् महावीर ने तो लेश्याओं के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हमारे अन्तर्जगत् का स्पष्ट चित्र खींच कर हमारे सामने रख दिया है। लेश्याओं के ज्ञान से जगत् अशुभ से शुभ की ओर प्रयाण करे यही सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है।

कषाय

कषाय का अर्थ—कषाय जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। यह 'कष' और 'आय' इन दो शब्दों के मेल से बना है। कष का अर्थ है 'कर्म' अथवा 'जन्म-मरण'। जिससे कर्मों का आय या बन्धन होता है, अथवा जिससे जीव को पुन पुन जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है, वह कषाय कहलाता है

जो मनोवृत्तियाँ आत्मा को क्लुषित करने वाली हैं, जिनके प्रभाव से

आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, मनोविज्ञान की भाषा में वह कषाय है। आवेश और लालसा की वृत्तियाँ कषाय को जन्म देती हैं। वह वृत्तियाँ भी अनेक प्रकार की हैं। मगर जैनधर्म में उन्हें चार भागों में बाँटा गया है।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से कहा—“हे गौतम ! कषाय चार हैं—

१ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४. लोभ।

जैनागमों में इन कषायों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन मिलता है।

१ क्रोध—क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक सवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है, जिससे उसकी विचार क्षमता और तर्क शक्ति बहुत कुछ शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेश की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा अमर्ष को और अमर्ष आक्रमण को उत्पन्न करता है। क्रोध और भय में यही प्रधान अन्तर है कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का, और भय के आवेश में आत्म रक्षा का प्रयत्न होता है।

क्रोध का आवेश होते ही गारीरिक स्थिति परिवर्तित हो जाती है। आमाशय की मथन क्रिया, रक्तचाप, हृदय की गति, और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु—सब अव्यवस्थित हो जाते हैं, और भय के बढ़ने पर आमाशय काम करना ही बंद कर देता है। मगर क्रोध में रक्त का बढ़ना, हृदय का धड़कना और ज्ञानतन्तुओं का शन्य होना विशेष क्रियाएँ हैं। अतः भगवान् महावीर फरमाते हैं—
‘क्रोध—चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलनरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है।’

क्रोध के नाना रूप होते हैं। उन्हें प्रदर्शित करने के लिए शास्त्र में क्रोध के दस नाम गिनाये गए हैं—जो मोटे तौर पर समानार्थक होने पर भी क्रोध के भिन्न-भिन्न रूपों के निदर्शक हैं। वे यह हैं—

१. क्रोध—सवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था।
२. कोप—क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता।
३. रोष—क्रोध का परिस्फुट रूप।
४. दोष—स्वयं पर या पर पर—दोष थोपना।
५. अक्षमा—अपराध को क्षमा न करना—उग्रता।
६. सज्वलन—बार-बार जलना, तिलमिलाना।
७. कलह—जोर-जोर से बोल कर अनुचित भाषण करना।

८. चाण्डिक्य—रौद्र रूप धारण करना ।
९. भंडन—पीटने-मारने पर उतारू हो जाना ।
१०. विवाद—आक्षेपात्मक भाषण करना ।

यह क्रोध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं जो उत्तेजन एवं आवेश के कारण उत्पन्न होकर भयकरता उत्पन्न करती हैं । (भगवती सूत्र, शतक १२, उ० ५, पा० २ ।)

२. अभिमान—कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, ज्ञान आदि किसी विशेषता का घमड करना मान है । मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही, परन्तु जब उसमें उचित से अधिक शासित करने की भूख जागृत होती है, और जब अपने गुणों एवं योग्यताओं को परखने में वह भूल कर जाता है, तब उसके अन्तःकरण में मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है ।

अभिमान में भी उत्तेजन और आवेश होता है, किन्तु अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता है । उसे अपने से बढकर या अपनी बराबरी का गुणी कोई देखता नहीं । भगवान् महावीर ने मान के बारह नाम बतलाये हैं—

१. मान—अपने किसी गुण पर झूठी अहंवृत्ति ।
२. मद—अहंभाव में तन्मयता ।
३. दर्प—उत्तेजनापूर्ण अहंभाव ।
४. स्तम्भ—अविनम्रता ।
५. गर्व—अहंकार ।
६. अत्युत्क्रोश—अपने को दूसरो से श्रेष्ठ कहना ।
७. परपरिवाद—परनिन्दा ।
८. उत्कर्ष—अपना ऐश्वर्य प्रकट करना ।
९. अपकर्ष—दूसरो की हीनता प्रकट करना ।
१०. उन्नत—दूसरो को तुच्छ समझना ।
११. उन्नतनाम—गुणी के सामने भी न झुकना ।
१२. दुर्नाम—यथोचित रूप से न झुकना ।

यह सब मान की विभिन्न अवस्थाएँ हैं ।

—भगवती, ग० १२, उ० ५, पाठ ३ ।

३. माया—कपटाचार माया कषाय है । शास्त्र में इसके पन्द्रह नाम गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. माया—कपटाचार ।

- २ उपाधि—ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार ।
३. निकृति—छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना ।
- ४ वलय—वक्रतापूर्ण वचन ।
५. गहन—ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना ।
- ६ नूम—ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना ।
- ७ कल्क—दूसरे को हिंसा के लिए उभारना ।
८. क्रूरुप—निन्दित व्यवहार ।
९. जिह्वाता—ठगाई के लिए कार्य मन्द करना ।
१०. किल्विषिक—भाँडों की भाँति कुचेष्टा करना ।
११. आदरणता—अनिच्छित कार्य भी अपनाना ।
१२. गूहनता—अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना ।
१३. वचकता—ठगी ।
१४. प्रतिकुचनता—किसी के मरल रूप से कहे गये वचनों का खडन करना ।
- १५ सातियोग—उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करना ।

यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं ।

—भगवती, श० १२, अ० ५, पा० ४ ।

४ लोभ—मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है । लोभ की सोलह अवस्थाएँ होती हैं—

१. लोभ—सग्रह करने की वृत्ति ।
२. इच्छा—अभिलाषा ।
३. मूर्छा—तीव्रतम सग्रहवृत्ति ।
४. काक्षा—प्राप्त करने की आशा ।
५. गृद्धि—प्राप्त वस्तु में आसक्ति होना ।
६. तृष्णा—जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति ।
७. मिथ्या—विषयो का ध्यान ।
८. अभिध्या—निश्चय से डिंग जाना ।
९. आशसना—इष्टप्राप्ति की इच्छा करना ।
१०. प्रार्थना—अर्थ आदि की याचना ।
- ११ लालपनता—चाटुकारिता ।
१२. कामागा—काम की इच्छा ।
१३. भोगाशा— भोग्य पदार्थों की इच्छा ।

वण पाच है	- ^१	कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ।
गंध दो है	-	सुगन्ध और दुर्गन्ध
रस पाच है	-	कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, और मपूर ।
स्पर्श आठ है	-	कठिन, मृदु, गुरु, लघु, गीत, उष्ण, सूक्ष्म और स्निग्ध ।

यह सब बीस पुद्गल के असाधारण गुण हैं, जो तारतम्य एव सम्मिश्रण के कारण सस्यात, असल्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते हैं ।

गन्ध, गंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति, भेद, अवकार, छाया, चाँदनी और धूप पुद्गल के ही लक्षण हैं^२ ।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद^३ हैं —स्कन्ध, देग, प्रदेश और परमाणु । सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है । स्कन्ध का एक भाग देग कहलाता है । स्कन्ध और देश से जुड़ा हुआ अविभाज्य अग्न प्रदेश कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कन्ध या देश से पृथक् हो जाता है तब परमाणु कहलाता है ।

साधारणतया कोई स्कन्ध वादर, और कोई सूक्ष्म होते हैं । वादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं^४ ।

इन्हे छह भागों में विभक्त किया गया है —

१. वादर वादर स्कन्ध — जो टूट कर जुड़ न सके, लकड़ी पत्थर ।
२. वादर स्कन्ध — प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड़ जाते हैं ।
३. सूक्ष्म वादर — जो देखने में स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे धूप, प्रकाश आदि ।
४. वादर सूक्ष्म — सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गंध, स्पर्श, आदि ।
५. सूक्ष्म — इन्द्रियो से अगोचर स्कन्ध, यथा-कर्मवर्गणादि
६. सूक्ष्मसूक्ष्म — अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, यथा-कर्मवर्गणा से नीचे के द्व्यणुक पर्यन्त पुद्गल ।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुन विभक्त नहीं हो

१ भगवती सू० श० १२ उद्देशा ४, स० ४५० ।

२ उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १२ ।

३. प्रज्ञापना परिणाम पद, १३ सू० १८५ । ४ अनुयोगद्वार

सकता । परमाणु में वद्यपि प्रवेश भेद नहीं है, मगर नगभेद धरणा होता है ।
उममें एक वर्ण, एक मध्र, एक रस, और दो स्वर्ण होते हैं ।

प्रायः का पलक गिराने में जितना समय लगता है, उममें परमाणुओं में
अणु को जैनशास्त्र 'ममय' की मला देते हैं । जैसे पृथ्वी का मूढमम पला
परमाणु है, उमों प्रकार काग का मूढमम भाग मम्य है । परमाणु में अविनश्य
वेग होता है, वह एक समय में सम्पूर्ण लोक का पार कर लेता है । जैनशास्त्र
वतलाने हैं कि^१ परमाणु प्रायः की भयानक लपटों में से गुजर कर भी प्रकटा
नहीं, पानी से गलता नहीं, ललता नहीं, मग का उन पर धमक होता नहीं, यह
अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्यर है । हा, निर्वा स्वल्प में जब मित जाता है
तो उनका परमाणु—पर्याय नहीं रहता, नगपि उमों मना यनी मती है । मम्य
के पृथक् हाने पर वह पन परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है ।

जैन धर्म का परमाणु विज्ञान मन्वन्त ममय और ममौर है । जैन
साहित्य में जितना चिन्तन एवं विश्लेषण परमाणु के विषय में उगाव्य है,
उतना विश्वसाहित्य में कही मन्व्य नहीं । कहा जाता है कि आज का युग
परमाणु-युग है, किन्तु जैन परमाणु विज्ञान को मला देते पर मरुट हों
जावेगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक मग तक मरी नहीं महन मक
है । उने पाने के लिए अणु भी महरा मीना लगाने की आवश्यकता है । अणुभेद
की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुतः मन्व्य भेद—पिण्डभेद है । अणु
तो अविभाज्य है ।

एक अणु का डूमरे अणु के साथ किस प्रकार मयांग मयान् बंध होता
है ? किन विशेषताओं के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते हैं, वह जानने के
लिए जैनागमों का मन्व्याम करने की आवश्यकता है । (देखिए—मगवनी मूत्र,
पन्नवणासूत्र, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थमूत्र, आदि) ।

शब्द परमाणुजन्य नहीं, स्कन्धजन्य है, दो स्कन्धों के मंवर्य में शब्द
की उत्पत्ति होती है । कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त आकान का गुण
कहते हैं, मगर अमूर्त का गुण मूर्त नहीं हो सकता । शब्द मूर्त है, वह जैन
मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी ममयित हो चुकी है । शब्द का रूप आदि में
प्रतिध्वनित होना और आमोफोन में बद्ध होना उसके मूर्तत्व का प्रमाण है ।

पुद्गल का चमत्कार—उपर्युक्त छह द्रव्यों का विस्तार ही यह मगत्
है ।^२ इसमें इनके अतिरिक्त कोई सातवा द्रव्य नहीं है ।

१, अनुयोगद्वार । २ स्थानांग स्थान, ३ उद्देशा० ३ सू० ८२

३ उत्तराध्ययन, अ० २८, मा० ८ ।

तत्त्व-चर्चा

पिछले प्रकरण में द्रव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुतः उसी में तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, क्योंकि जैसे मूलद्रव्य जीव और अजीव दो हैं, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो हैं। फिर भी जैनशास्त्रों में द्रव्यों में पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्यनिरूपण सृष्टि का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए है, जब कि तत्त्वविवेचन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल निश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अगभूत पदार्थों का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्वज्ञान के सहारे मुक्तिसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में कोरे द्रव्य ज्ञान से मुक्तिलाभ होना नभव नहीं है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व विवेचन से ही संभव है। निगूठ नायपुत्र महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जब तक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता, वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

जैनधर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है—प्रयोजनभूत ज्ञान, और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान ही 'प्रयोजनभूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नहीं, कि जगत् कितना विशाल है, और इसके उपादान क्या हैं? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है। सब आत्माएँ तत्त्वतः समान हैं, तो उनमें वैषम्य क्यों दृष्टिगोचर होता है? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति में रहती है? इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए जैनागमों में तत्त्व का निरूपण किया गया है।

सक्षेप में यह कि द्रव्यनिरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एवं लौकिक है, और तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नौ^१ हैं — १ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आस्रव ६ सवर ७ निर्जरा ८ वध ९ मोक्ष।

यह जैन धर्म का आध्यात्मिक मन्थन तथा विकास के साधक और

१ स्थानाग, स्था० ९, सूत्र, ६६५; उत्तराध्ययन सूत्र भा० २८, गा० १४।

बाधक तत्त्वों का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इन्हीं तत्त्वों के आघार पर जीव के उत्थान, पतन, सुख, दुःख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएँ हल करता है। इन तत्त्वों का सखिपन परिचय इस प्रकार है।

१ जीव—जीव के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। जीव कहिए या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी कर्मबन्ध के कारण मूर्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन और दुःखी बनाता है। आत्मा कर्म उपार्जन करने में स्वतन्त्र, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है^१। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त धणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यों की भाँति परिणामी नित्य है।

२ अजीव—अजीव का वर्णन पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि जीव कर्मबन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल है। देखना चाहिए कि जीव का कर्म पुद्गलों के साथ क्यों और कैसे सम्बन्ध होता है।

३. पुण्य—^२“पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।”

“जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।” पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल है, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना में सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थकर नामकर्म भी पुण्य का फल है। पुण्य, मोक्षार्थियों की नौका के लिए अनुकूल धायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

(आचार्य हेमचन्द्र ने कर्मों के लाघव को भी पुण्य माना है) “पुण्यत.—कर्मलाघवलक्षणात् शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।”—योगशास्त्र—प्र० ४, श्लो० १०७।

जिन प्रकारों से पुण्योपार्जन होता है, उन्हें नौ^३ भागों में विभक्त किया है —

१. अप्या कत्ता विकत्ता य, उत्तरा०, अ० २० गा० ३७।

२. स्यातांग, अभयदेव टीका, प्रथम स्थान

३. नवपुण्ये, ठाणांग, ठाणा ९

१. अन्नपुण्य — भोजन का दान देना ।
२. पान पुण्य — पानी का दान देना ।
३. लयनपुण्य — निवास के लिए स्थान-दान करना ।
४. गयनपुण्य — शय्या, सस्तारक-विछौना आदि देना ।
५. वस्त्रपुण्य — वस्त्र का दान देना ।
६. मन पुण्य — मन के शुभ एव हितकर विचार ।
७. वचनपुण्य — प्रशस्त वाणी का प्रयोग ।
८. कायपुण्य — शरीर से सेवा आदि शुभ प्रवृत्ति करना ।
९. ननस्कारपुण्य — गुरुजनो एव गुणी जनो के समक्ष नम्रभाव धारण करना, और प्रकट करना ।

पुण्य के भी दो भेद हैं — १. द्रव्य पुण्य और २. भाव पुण्य ।

अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियों से पुण्य का उपार्जन होता है । विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुखी प्राणियों के दुःखनिवारण करने की भावना, तथा तदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है । और इन्हीं मङ्गुणो को सम्यक्दृष्टिपूर्वक सम्पादन किया जाय, तो यह धर्म तथा निर्जरा के भी कारण बन जाते हैं ।

पाप—जिस विचार, उच्चार एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है । पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दुःखमय बनाते हैं । निम्नलिखित अठारह अशुभ आचरणो मे सभी पापो का समावेश हो जाता है ।

१. प्राणातिपात-हिंसा ।
२. मृषावाद-असत्य भाषण ।
३. अदत्तादान-चौर्यकर्म ।
४. मैथुन-काम-विकार, लैंगिक प्रवृत्ति ।
५. परिग्रह-ममत्व, मूर्छा, तृष्णा,
६. क्रोध-गुस्ता ।

संचय ।

७. मान-अहंकार, अभिमान ।
८. माया-कपट, छल, षडयन्त्र, कूटनीति ।
९. लोभ-संचय के सरक्षण की
१०. राग-आसक्ति ।

वृत्ति ।

११. द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या
१२. क्लेश-सघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि ।

१३. अम्याख्यान-दोपारोपण १४. पिशुनता-चुगली
 १५. परपरिवाद-परनिदा । १६. रति-अरति-हर्ष और शोक ।
 १७. मायामृषा-कपट सहित झूठ । १८. मिथ्यादर्शनशतय-अथयार्थं श्रद्धा ।

आस्रव —^१ आत्मा में कर्मों का आना और उनके आने का कारण आस्रव कहलाता है । मन, वचन, और काय की वह सब वृत्तियाँ, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, आस्रव हैं । आस्रव कर्मवन्ध का कारण है ।

आत्मा के लोक में आस्रव ही कर्मों का प्रवेगद्वार है । मुमुक्षु-जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियों या प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण कर्मों का आगमन होता है ? उन्हें जाने बिना निरुद्ध नहीं किया जा सकता, और मुक्तिलाभ भी नहीं लिया जा सकता ।

आस्रवजनक वृत्तियों और प्रवृत्तियों की ठीक तरह गणना नहीं हो सकती, तथापि वर्गीकरण करके जैनशास्त्रों में अनेक प्रकार से उनका दिग्दर्शन कराया गया है । मूल में उनकी मख्या पाच है .—

- | | | |
|--------------|---|------------------------------|
| १. मिथ्यात्व | — | विपरीत श्रद्धा । |
| २. अविरति | — | अहिंसा, अमत्य आदि । |
| ३. प्रमाद | — | कुशल अनुष्ठान में अनादर । |
| ४. कषाय | — | क्रोध, मान, माया, लोभ । |
| ५. योग | — | मन, वचन और काया का व्यापार । |

संवर—^२ मुमुक्षु जीव कर्मों के आस्रव के कारणों को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियों का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है । आस्रव का रुक जाना ही संवर है । उदाहरणार्थ—यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्वजन्य आस्रव रुक जाता है, अहिंसा सत्य आदि व्रतों का आचरण करने से अविरति-जन्य आस्रव नहीं होता, अप्रमत्त अवस्था में प्रमादजन्य आस्रव नहीं होता, वीतरागदशा प्राप्त कर लेने पर कषाय-जन्य आस्रव रुक जाता है, और पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है ।

कर्मास्रव का निरोध^३ मन, वचन, काय के अप्रगस्त व्यापार को रोकने

१. समवायांग, समवाय ५ ।

२. उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ११ ।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९, सूत्र २, स्थानांगवृत्ति, स्था० १ ।

से, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से, क्षया आदि धर्मों का आचरण करने से, अन्त-करण में विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र्य का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योग-क्रिया को सर्वथा निरुद्ध नहीं कर सकता। उठना, बैठना, खाना-पीना, सभाषण करना आदि जीवन के लिए अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियों की मनाही नहीं करता, परन्तु इन पर अकुश अवश्य लगाता है, और वह अकुश है विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमें विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए, वह समस्त क्रियाएँ आस्रव हैं जिनके पीछे अविवेक काम करता है, इसके विपरीत विवेकपूर्ण की जाने वाली क्रियाये धर्म और संवरमय हैं।

निर्जरा:—^१ सवर नवीन प्राने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना संवर समझिए। मगर जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे धीरे-धीरे उलीचना पड़ेगा^२। बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना। पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना निर्जरा तत्त्व है। कर्मनिर्जरा के दो प्रकार हैं—
अपैकमिक और अनपैकमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तप प्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से, बलात्कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना अपैकमिक निर्जरा है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय में आना और फल देकर हट जाना अनपैकमिक निर्जरा है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है, किन्तु साधक सवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है। वह अन्त में पूर्णरूप से निष्कर्म^३ बन जाता है।

मगर यह साधना सरल नहीं है। इसके लिए सभी पर पदार्थों में

१. स्थानांग, स्था० ५, उ० १, सूत्र ४०९।

२. जहा महातलागस्त, उत्तराध्ययन, अ० ३०, गा० ५।

३. उत्तराध्ययन, अ० १३, गा० १६।

अनासक्ति और साथ ही आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। ऐसा साधक अपने विनाट् चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना ही अपना एकमात्र ध्येय मानता है। जैनशास्त्र साधक-जीवन की अनासक्ति को यों प्रकट करते हैं—

‘अवि अप्पणो वि देहमि, नायरति समाइय ।’

ससार के अन्य पदार्थों की वात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी ममभाव नहीं रहता। वह अन्तस्थ होकर स्वरूपरमण में ही लीन रहता है। इसी कारण सयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण भर में फल भोगे बिना ही भस्म कर देता है। अडोल अकम्प साधक जगत् में रहता हुआ भी, जगत् से और देह में रहता हुआ भी देह से ऐसा अलिप्त रहता है जैसे कीचड़, पानी, और आग में पड़ा हुआ सोना अपने स्वरूप में शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्मसघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैन परिभाषा में इसे ‘सकाम’ निर्जरा कहते हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते हैं, और फल देने के बाद वे निर्जीव हो जाते हैं। वह अकाम निर्जरा है। साधारण ससारी प्राणी अकामनिर्जरा द्वारा ही कर्मों को जीर्ण करते हैं, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपाज्जन कर लेते हैं, जिससे उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा, और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एवं अशान्तभाव से कष्ट भोगना, अकामनिर्जरा है।

बन्ध —आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति, कर्मों का मिल जाना, बन्ध कहलाता है। किन् वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से कर्मों का आस्रव होता है यह हम देख चुके हैं, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता कैसे है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्गल रूपी है। अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार संभव है? १

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है; तथापि अनादि काल से कर्मवद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त

संनारी प्राणी ने अथ तत्र कर्मा अथवा अमूर्त स्वभाव प्राप्त नहीं किया है और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मवद्ध नहीं होता ।

खनिज स्वर्ण का गिट्टी के साथ कब नयोग हुआ, नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहल कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता । इन सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इनका सम्बन्ध अनादिकालीन है ।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आकर चिपक जाते ह, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते हैं ।

राग-द्वेष, मोह आदि जो विकृत भाव कर्मपुद्गलों के बन्ध में कारण हैं, वे भाव बन्ध हैं, और कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होना प्रत्य बन्ध है ।

पुद्गल की अनेक जातियों में एक 'कार्मण' जाति है । इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं । जब आत्मा में रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वही के आत्मप्रदेशों से बद्ध हो जाते हैं, जहाँ वे पहले से मौजूद थे । यही बन्ध का स्वरूप है । बन्ध के समय उन कर्मों में चार बातें नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार^१ कहे जाते हैं ।

गाय घाम खाती है, और अपनी औदर्य यन्त्रप्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है । उस दूध में चार बातें होती हैं —

१ दूध की प्रकृति (मधुरता) २ कालमर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि । ३ मधुरता की तरमता, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम, और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता होना आदि । ४ दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि ।

इसी प्रकार कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है । कर्म के स्वभाव असरय हैं, फिर भी उन्हें आठ भागों में विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद में दिया गया है । स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है, जिसे स्थिति बन्ध कहते हैं । फल (रस) देने की तीव्रता अथवा

मन्दता 'अनुभागबन्ध' या 'रस बन्ध' है, और कर्मप्रदेशो का समूह 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है ।

इन चार बन्धो में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगो की चंचलता पर निर्भर होते हैं, अर्थात् कितने कर्मदल बन्ध, और उनमें किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, वह बात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है । कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहे, और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कषाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है ।

मोक्ष —^१ सवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है । जब कर्म नहीं रहते तो कर्मजनित उपाधियाँ भी नहीं रहती, और जीव अपने विगुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । यही जैनधर्म-सम्मत मोक्ष है ।

मुक्त दशा में आत्मा^२ अगरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यघन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है । वह सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है ।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते हैं, जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है वह फिर कभी विकारमय नहीं होता । वह आस्रव और बन्ध के कारणों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है । इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है । मुक्तात्मा फिर कभी ससार में अवतीर्ण नहीं होते^३ वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त है ।

आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगतिशील है । जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूबा जल में छोड़ देने पर नीचे की ओर चला जाता है, और ठेठ पैदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है, और जैसे अग्निशिखा स्वभावतः ऊर्ध्वगति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करती है ।

१ उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ७२ ।

२ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ६७ ।

३. दशाश्रुतस्कन्ध, अ० ५, गा० १३ ।

मगर लोकाकाश से आगे गति महायक धर्मद्रव्य नहीं है। अतएव वहाँ उसकी गति का निरोध हो जाता है, और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग^१ में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार समस्त औपाधिक भावों से छुटकारा पा लेना, चैतन्यानुभूति की पूर्ण विशुद्धि हो जाना, या आत्मा का परम-आत्मा बन जाना ही मोक्ष है। यही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

ससार-दशा में, आत्मा में ज्ञान और आनन्द के जो विकृत अग्र अनुभव में आते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द नामक गुण के विकार हैं। मुक्त-दशा में वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं, अतएव मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान, और पूर्ण एवं अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

मोक्ष-लाभ ही मानव-जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओं का सार है।

प्रमाण-मीमांसा

जैनशास्त्रों में ज्ञान की मीमांसा के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति, और तार्किक पद्धति में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है, तथापि दोनों का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे। तार्किक पद्धति के अनुसार सगय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान, प्रमाण कहलाता है। प्रमाण ज्ञान को चार भागों में विभक्त किया गया है^२।

१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. आगम और ४. उपमान।

इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१ प्रत्यक्ष :—^३ विशद ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान में वस्तुगत विशेषताएँ प्रचुरता से प्रतीत होती हैं, वह प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त पाच ज्ञानों में से मति ज्ञान

१ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५७।

२. पञ्चकले, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, अनुयोगद्वार। प्रमाणद्वारम्।

३. से किं तं पञ्चकले? अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वारम्।

और श्रुत ज्ञान परोक्ष^१ है और अन्तिम तीन-अवधि, मन पर्याय, और केवल ज्ञान-प्रत्यक्ष^२ है । प्रत्यक्ष में भी अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान विकल या आगिक प्रत्यक्ष है, और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुतः परोक्ष है, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते हैं ।

२. अनुमान —^{३-४} अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है । यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका अपना विगिष्ट स्थान है । अनुमान के द्वारा ही हम ससार का अधिकतम व्यवहार चला रहे हैं । अनुमान के आधार पर ही तर्कशास्त्र का विशाल भवन खडा हुआ है ।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है । अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव में धूम्र उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारण भाव व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है । इसका निश्चय तर्क प्रमाण से होता है । अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का बोध हो जाता है । वही बोध अनुमान कहलाता है । किसी जगह धूम से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वतः होती है^५ यही अनुमान ज्ञान है ।

कही कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है । मनुष्यों में भी अमुक मनुष्य का है, और पशुओं में भी अमुक पशुजाति का है । इस प्रकार केवल स्वर से स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है^६ ।

अनुमान के दो भेद हैं — स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अनुमान-कर्त्ता जब अपनी अनुभूति से स्वयं ही किसी तथ्य (जेय-साध्य) का हेतु

१. परोक्खे णाणे डुविहे, स्थानांग सूत्र, स्था० २ ।

२. तिविहे पण्णत्ते, अनुयोगद्वार प्रमाणद्वारम् ।

३. से किं तं अणुमाणे, अनुयोगद्वार० प्रमाणद्वारम् ।

४. अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्, मल्लधारीया टीका ।

५. अग्निं धूमेणं

६. सखं सहेणं

(साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वह वचनप्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझाता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान का शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए ? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियों ने बहुत विचार किया है। न्यायदर्शन में परार्थानुमान के पाँच अवयव^१ स्वीकार किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :-

१. पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा) ।
२. क्योंकि वहाँ धूम्र है (हेतु) ।
३. जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर (उदाहरण) ।
४. पर्वत में भी धूम्र है (उपनय) ।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)

जैन तार्किक समझदारों के लिए इनमें से प्रथम के दो अवयवों का प्रयोग ही पर्याप्त मानते हैं। अनवज्ञा किमी अवोध व्यक्ति को समझाने के लिए अदिक अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग में कोई हानि नहीं समझते। मगर पाँचों अवयवों के प्रयोग को वे अनिवार्य नहीं समझते।

३. आगम प्रमाण ---^२ श्रुतज्ञान के विवेचन में आगम प्रमाण का वर्णन किया जायेगा।

४. उपमान प्रमाण ---^३ प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् बोध होना उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

‘गवय गौ के समान होता है’ यह वाक्य जिसने सुन रक्खा है, वह व्यक्ति जब अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण करके झट समझ जाता है, कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनों के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

१ पंचेविह पणतं ।

२. से कि तं आगमे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम् ।

३. से कि त ओवभ्मे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम् ।

प्रमाणों का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी आगमिक है । पञ्चाद्वर्ती तार्किक आचार्यों ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है । उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद हैं — साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष^१ । परोक्ष प्रमाण पाच प्रकार का है —

१. स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क^४ अनुमान और ५ आगम ।

स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण में भी पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नहीं है । इसमें उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान नहीं देकर, प्रत्यभिज्ञान में सम्मिलित कर लिया गया है ।

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क उस वर्गीकरण के अनुसार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है ।

नयवाद

१. नय स्वरूप — विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी के रूप में प्रमाण को अंगीकार करते हैं । किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध में एक नयी सूझ देता है । उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तुतत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नहीं है । वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है । जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक बन गये हैं, जब कि जैनदर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है ।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है । नय उसी वस्तु के अंगों को, उसके खड-खड रूपों को जानता है ।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है । विश्लेषण के बिना उसका परिपूर्ण रूप नहीं जाना जा सकता । तत्त्व का विश्लेषण करना और विश्लिष्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है ।

१. जैन न्याय तर्क सग्रह (यज्ञोविजय) प्रमाण खण्ड ।

नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के अविरोध का मूल खोजा जाता है, और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारों की मीमांसा है। वह एक ओर विचारों के परिणाम, और कारण का अन्वेषण करते हैं, और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का बीज खोज कर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड़ पदार्थ, सभी विषयों में परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माएं अनन्त-अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिशाई देने वाले मन्तव्यों के विषय में नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माएं अनेक हैं? इस प्रकार के दृष्टिकोणों का अन्वेषण करके उन विचारों की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारों के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत के विचारों के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म-स्वभाव गुण विद्यमान हैं। उनके विषय में अनन्त अभिप्रायों को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप में जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। प्रमाण अनेकाश ग्राही है, तो नय एक अश का ग्राहक है।

२. नय की सत्यता—कहा जा सकता है कि अनेक अशों में से सिर्फ एक अश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्याज्ञान है। नय यदि मिथ्याज्ञान है तो वह वस्तुतत्त्व के निर्णय का आधार कैसे बन सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है, कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश संभव नहीं है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपों में परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय में उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि में

जन्म लेना है, तो कभी नरक का कीड़ा बन जाता है। इस दृष्टिकोण से आत्मा अनित्य भी है। यहाँ नित्यताग्राही नय अगर अनित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे तो वह सम्प्रकनय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयों के दृष्टिकोण का विरोध करता है तो ऐसा करनेवाला नय मिथ्यानय बन जाता है।

सरल शब्दों में कहना चाहिए—कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नहीं कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा तो वह स्वयं झूठा हो गया।

३. नयभेदः—कहा जा चुका है कि एक वस्तु में अनन्त-अनन्त धर्म हैं और उसमें एक एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त हैं तो नय भी अनन्त होने चाहिए। वास्तव में ऐसा ही है। जगत् में प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना में नहीं आ सकते तो उनको ग्रहण करने वाले नयों की गणना भी सम्भव नहीं। इसीलिए जैनदर्शन कहता है—

‘जावइया वयणपहा, तावइया चैव हुंति नयवाया ।’

अर्थात्—जितने वचन के पद हैं, या वस्तु सम्बन्धी अभिप्राय हैं, उतने ही नय के प्रकार हैं।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो उन समस्त नयों को दो भागों में बाटा जा सकता है^१।

१ द्रव्यार्थिकनय और २ पर्यायार्थिक नय।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न और देशों और कालों में होने वाली नाना अवस्थाएँ पर्याय कहलाती हैं। समस्त विचारों की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूलभूत दो ही हैं।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

१ से किं तं णए ? सत्तमूलणया पणत्ता अनुयोगद्वार नयद्वारम्,

उल्लो सुक्खो व दो छूढा, गोलया सट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोत्थ लग्गई ॥
एवं लग्गन्ति दुम्महेहा, जे नरा काम लालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २५, गा० ४२-४३ ।

हे गाथक जिम प्रकार एक सूखी मिट्टी का और एक गीली मिट्टी का गोला दीवार में फँका जाय, तो गीला गोला दीवार से चिपक जाता है, सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालसा में आसक्त, और दुष्ट-बुद्धि वाले मनुष्य होते हैं उन्हीं को संसार का बंधन होता है और जो काम-भोग से विरत होते हैं, उन को बंधन नहीं होता ।'

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

चौदह गुणस्थान

आत्मा की क्रमिक उत्क्रान्ति—जैनधर्म का मन्तव्य है कि विश्व में अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वे किसी एक विराट् सत्ता का अंश नहीं हैं, हाँ, सभी आत्माओं का मूल स्वभाव समान है, उसमें कोई विलक्षणता नहीं, भेद नहीं, फिर भी उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् ही है।

प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक होने पर भी ससार की आत्माओं में जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह श्रौपाधिक है। कर्मों के आवरण की तरतमता के कारण ही आत्मा-आत्मा में भेद दिखाई देता है। आवरण की तरतमता अनन्त प्रकार की है, अतएव आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विकास और ह्रास की दशाएँ भी अनन्त हैं। फिर भी ज्ञानियों ने उन दशाओं का वर्गीकरण किया है और वह भी अनेक प्रकार से—

एक वर्गीकरण के अनुसार विकास-दशा की दृष्टि से आत्माएँ तीन प्रकार की होती हैं—

- | | | |
|---------------|---|----------------|
| १. बहिरात्मा | — | (मिथ्यादर्शी) |
| २. अन्तरात्मा | — | (सम्भ्रमदर्शी) |
| ३. परमात्मा | — | (सर्वदर्शी) |

जैनशास्त्रो मे इन तीन प्रकार की आत्माओ की भी चौदह भूमिकाएँ बतलाई गई हैं, जिन्हे गुणस्थान कहते हैं। पहली से तीसरी भूमिका तक का जीव बहिरात्मा कहलाता है। सामान्यतया चौथी से बारहवी भूमिका वाला, अन्तरात्मा कहलाता है और तेरहवी तथा चौदहवी वाला परमात्मा।

गुणस्थान जैनधर्म की मौलिक देन है। चौदह गुणस्थान में आत्मा की समस्त विकास-ह्रास की अवस्थाओ के चित्र दिखलाये गए हैं। इनमे समार की सब आत्माओ का समावेश हो जाता है। किसी भी आत्मा की कोई भी अवस्था क्यों न हो, उसका अन्तर्भाव किसी-न-किसी गुणस्थान मे ही जाता है।

यहाँ गुण का अर्थ है—‘आत्मा की विशेषता’। आत्मा की विशेषताएँ पाँच प्रकार की हैं, जिन्हे जीव का भाव भी कहते हैं।

१. कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव ‘अदीयिक’,
२. कर्म के क्षय मे उत्पन्न होने वाला भाव ‘क्षायिक’,
३. कपाय के गमन से उत्पन्न होने वाला भाव ‘अपशमिक’,
४. क्षयोपशम से होने वाला भाव ‘क्षयोपशमिक’ तथा
५. जो कर्मों के उदय आदि से उत्पन्न न होकर स्वाभाविक हो, वह ‘पारिणामिक’ भाव कहलाता है।

यह पाँच प्रकार के जीव के भाव, यहाँ गुण कहे गए हैं। इन गुणो के स्थानो, अर्थात् भूमिकाओ को गुणस्थान समझना चाहिए।

आत्मा के विकास-प्रवाह को कोई विभवत नहीं कर सकता, तो भी मुगमता के लिए उसका विभाजन किया गया है। उसी विभाजन के अनुसार चौदह गुणस्थान इस प्रकार हैं—

- | | | |
|--------------------------|---|---------------------------|
| १. मिथ्यात्वगुणस्थान | — | मिथ्यादृष्टि। |
| २. सास्वादन गुणस्थान | — | सासादनसम्यग्दृष्टि। |
| ३. मिश्रगुणस्थान | — | सम्यग-मिथ्यादृष्टि |
| ४. अविरतसम्यग्दृष्टि | — | असयत सम्यग्दृष्टि। |
| ५. देशविरति | — | नयतासंयत। |
| ६. सर्वविरति गुणस्थान | — | प्रमतसयत। |
| ७. अप्रमत गुणस्थान | — | अप्रमतसयत |
| ८. अपूर्णकरण | — | |
| ९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान | — | अनिवृत्ति वादरत्ताम्पराय। |
| १०. सूक्ष्मसम्पराय | — | |

११	उपशान्तमोह गुणस्थान	—	उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ ।
१२	धीणमोह	—	धीणकषाय वीतराग छद्मस्थ ।
१३	सयोगिकेवली	—	सशरीरमुक्त (जीवन्मुक्त)
१४.	अयोगिकेवली	—	अशरीरीसिद्ध (पूर्णमुक्त)

१ मिथ्यात्वगुणस्थान—जब आत्मा में यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोध के स्थान पर अयथार्थ आग्रह से एकान्तता का अभिनिवेश, पक्षान्धता आदि दुर्गुणों का समावेश होता है, उस समय की जीव की स्थिति मिथ्यात्वगुणस्थान है ।

मिथ्यात्वी सत्य को अमत्, धर्म को अधर्म और कल्याण को अकल्याण मानता है । वह आत्मिक साधना के विषय में कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य होता है । जीव की यह मूढ़ दशा अथवा विकारो की विपरीत दशा मिथ्यात्व है ।

ममार की अधिकांश आत्माएँ इसी गुणस्थान में हैं । यद्यपि आत्मा के क्रमिक विकास में मिथ्यात्व को गुणस्थान का पद नहीं मिलना चाहिए, मगर 'गुण' शब्द साधारण है और उसमें लौकिक व अलौकिक सभी का समावेश होता है, इस कारण उसे भी गुणस्थान ही कहा है । यही आत्मसाधना की प्राथमिक भूमिका है । यही से आत्मा मिथ्यात्व का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करके चतुर्थ गुणस्थान पर पहुँचती है ।

क्षय का अर्थ है 'नष्ट करना' और उपशम का अर्थ है 'शान्त करना' 'दवा देना' । यह ध्यान रखना चाहिए कि मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक्त्व की ओर आगे बढ़ने वाली आत्मा का फिर सम्यक्त्व से पतन नहीं होता, मगर उपशम करके आगे बढ़ने वाली आत्मा का पतन अवश्यभावी है ।

२. सास्वादन-गुणस्थान—जिस आत्मा ने मिथ्यात्व का क्षय-विनाश नहीं किया था, किन्तु मिथ्यात्व को शान्त करके सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त की थी, उसका दवाया हुआ मिथ्यात्व थोड़ी-सी देर में फिर उभर आता है और वह आत्मा सम्यक्त्व से पतित हो जाती है, जब वह सम्यक्त्व से गिर जाती है परन्तु मिथ्यात्व की भूमिका पर नहीं पहुँच पाती, पतन के पथ पर बढ रही है, फिर भी सम्यक्त्व का किञ्चित् रसास्वादन कर रही है, उस समय की आत्मा की दशा सास्वादन गुणस्थान है । यह स्थिति बहुत थोड़ी देर तक ही रहती है ।

३. मिश्र गुणस्थान—किसी-किसी आत्मा में ऐसे अर्धसत्य-मिश्रित अर्धवसाय उत्पन्न होते हैं, जिनमें सत्य और असत्य दोनों का ही मिश्रण होता है । वह दोलायमान अवस्था मिश्र गुणस्थान कहलाती है । यह गुणस्थान मिथ्यात्व से ऊँचा है, किन्तु पूर्ण विवेक के अभाव में सत्य के प्रति दृढ़ प्रतीत नहीं होने से इसमें स्थिति डावाडोल रहती है ।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सम्यग्दर्शन विघातक मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम करके जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन-शुद्ध श्रद्धा की प्राप्ति कर ली है, किन्तु चारित्र्य विघातक-मोहनीय कर्म का क्षय न कर सकने के कारण जो व्रत अंगीकार नहीं कर सकती, उस आत्मा की अवस्था अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाती है।

सम्यग्दर्शन क्या है ? यह अन्यत्र बतलाया जा चुका है। मुक्ति के तीन कारणों में यह अनन्यतम है। यहाँ से मुक्ति की साधना आरम्भ होती है। अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव भले संयम का आचरण नहीं कर सकता, फिर भी उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह आत्मा-अनात्मा एव हित-अहित के विवेक से सम्पन्न होता है। भोगों से पिण्ड नहीं छुड़ा पाता, फिर भी उनमें अलिप्त रहता है। वह अपने विचारों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त जीवों की पीड़ा देखकर उसके हृदय से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध गुद्ध हो जाता है और वह सयम के पथ पर चलने को उत्कण्ठित रहता है।

५. देशविरति गुणस्थान—वही सम्यग्दृष्टि जीव जब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का आशिक रूप से पालन करने में समर्थ हो जाता है—गृहस्थधर्म का आचरण करने लगता है, सूक्ष्म पाप का त्याग न कर सकने पर भी स्थूल पाप का त्याग कर देता है, तब वह इस गुणस्थान में पहुँचता है। इस गुणस्थान वाले के चारित्र्य का स्वरूप चारित्र्य के प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है।

६. प्रमत्तगुणस्थान—आत्मा को अपनी हीनता पर विजय पाने का विश्वास हो जाता है, तब वह अपनी अपूर्णताओं को समाप्त करके सर्वत महा-व्रती बन जाता है, सूक्ष्म पापों का भी परित्याग कर देता है। उस समय वह प्रमत्तगुणस्थान में होता है। साधक इस गुणस्थान में साधु तो बन जाता है, किन्तु प्रमाद के बल को समाप्त नहीं कर पाता।

प्रमाद पाँच प्रकार का है जैसे कि.—

आलस्य, कषाय, निद्रा, विकथा, इन्द्रिय-भोगों के कारण कर्तव्य के प्रति मन में अनादर का भाव उत्पन्न होना प्रमाद है। अर्थात्—

- | | | |
|---------|---|------------------------------------|
| १. मद्य | — | मादकता-सम्बन्धी। |
| २. विषय | — | मोह और कामुकता के जनक रूप, रस आदि। |
| ३. कषाय | — | क्रोध, मान, कपट, लोभ। |

५. निद्रा - आलस्य ।

५. स्त्री, भोजन आदि के विषय में निष्प्रयोजन बातें करना ।

नम्यदृष्टि और ब्रती होने पर भी प्रमाद का अस्तित्व होने से इसे प्रमत्तगुणस्थान कहते हैं ।

७. अप्रमत्तगुणस्थान—आत्मार्थी साधक की परम पवित्र भावना के वन पर कभी-कभी ऐसी प्रवस्था प्राप्त होती है कि अन्तःकरण में उठने वाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है । यह शान्मच्चिन्तन में सावधान रहता है । उम समय की स्थिति अप्रमत्तगुणस्थान है । यह दो प्रकार के होते हैं—

१. स्वस्थान अप्रमत्त, २. नातिशय अप्रमत्त ।

स्वस्थान अप्रमत्त साधक छठे गुणस्थान में सातवें में बार-बार चढ़ता और फिर छठे में उतरता है । जब आत्मिक तल्लीनता की स्थिति में पहुँचता है तो सातवें गुणस्थान पर चढ़ जाता है और जब वह तल्लीनता नहीं रहती और गमतागमन, भाषण, भोजन आदि बाहर की किसी क्रिया में व्याप्त होता है तो छठे गुणस्थान में उतर आता है । किन्तु भावों का रूप अत्यन्त शुद्ध बन जाता है तो साधक नातिशय अप्रमत्त होकर अस्पृहित गति में ऊपर चढ़ता है । उस समय वह नातिशय अप्रमत्त कहलाता है ।

नातिशय अप्रमत्त साधु के ऊपर चढ़ने के भी दो प्रकार हैं—जिन्हें आगम की परिभाषा में उपगम श्रेणी और क्षपक श्रेणी कहते हैं ।

जो साधक चारित्र्यमोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ और ऊपर चढ़ता है, वह आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुँचता है, किन्तु वहाँ उसकी प्रगति रुक जाती है और वह नीचे गिरता है, शान्त हुए कर्म फिर जागृत हो जाते हैं, अतः उमें नीचे आना ही पड़ता है, किन्तु जो साधक मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ ऊपर चढ़ता है, वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर तेरहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और परमात्मदशा प्राप्त कर लेता है ।

८. अपूर्वकरण—यहाँ करण का अभिप्राय अध्यवसाय, परिणाम या विचार है, अभूतपूर्व अध्यवसायो का उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है । इस गुणस्थान में चारित्र्य मोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षय या उपशम करने से साधक को विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है । इस गुणस्थान में विभिन्न समयवर्ती जीवों

के परिणामो में विसदृशता अथवा एक समयवर्ती जीवों में विसदृशता और कभी सदृशता भी पाई जाती है ।

९. अनिवृत्तिकरण—सातवे गुणस्थान में जब सातिगय अप्रमत्त अवस्था आती है तो साधक के परिणाम उत्कृष्ट हो जाते हैं, किन्तु इस स्थान में उत्पन्न हुए भावोत्कर्ष की निर्मल विचारधारा और भी तीव्र हो जाती है । इस गुणस्थान में विचारों की तरतमता नष्ट हो जाती है । विचारों की सामान्यगामिनी वृत्ति केन्द्रित और सम समान हो जाती है । यहाँ साधक की सूक्ष्मतर और अव्यक्ततर काम-सम्बन्धी वासना, जिसे वेद भी कहते हैं, समूल विनष्ट हो जाती है ।

१०. सूक्ष्मसम्पराय—मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त कषाय को नष्ट कर देता है, केवल लोभ का अतिगय सूक्ष्म अथवा हींशेष रह जाता है । उन्नी आत्मोत्कर्ष की ऊँची अवस्था का नाम सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है ।

११ उपशान्तमोह गुणस्थान—कोई योद्धा शत्रु-सेना को नष्ट करके किसी प्रयोग से थोड़ी देर के लिए बेहोश करता हुआ उसके व्यूह में प्रवेश करता है । उसकी क्या स्थिति होती है ? शत्रु-सेना थोड़ी देर में होश में आकर उसे घेर लेती है और उसका फल है उस योद्धा का अन्त होना । इसी प्रकार जो साधक मोहनीय कर्म को नष्ट (क्षीण) करके, सिर्फ उपशान्त करके आगे बढ़ता है, उसका भी अवश्य पतन हो जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसा साधक थोड़ी-सी देर इस ग्यारहवें गुणस्थान में रहकर और समस्त मोह को पूर्ण रूप से उपशान्त करके भी नीचे गिर जाता है ।

१२ क्षीणमोह गुणस्थान—मोहकर्म क्षय करता हुआ आत्मा, दसवें गुणस्थान में अवशिष्ट लोभांग का भी जब क्षय कर देता है और पूर्ण वीतरागता के उच्च गिखर पर आसीन हो जाता है, तो इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है ।

मोहकर्म समस्त कर्मों में प्रधान है, और वही समस्त कर्मों को आश्रय दिया करता है, बारहवें गुणस्थान में उसके क्षीण होने पर थोड़ी-सी देर में ही में जानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीन कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

१३ सयोगी केवलो गुणस्थान—ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के क्षय हो जाने से इस गुणस्थान में आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त प्राध्यात्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है । यह जीवनमुक्त की दशा है ।

इस गुणस्थान में सयोग शब्द जोड़ने का अभिप्राय यह है कि मन, वचन और काय का यहाँ व्यापार-स्पन्दन होता रहता है ।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान—इस गुणस्थान का काल अत्यन्त थोड़ा है। अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच ह्रस्व-स्वरो का मध्यम वेग से उच्चारण करने में जितना समय लगना है, वन उतना ही इस गुणस्थान का समय है। इस गुणस्थान में काय और वचन का व्यापार तो निरुद्ध हो ही जाता है, पर मानसिक वृत्तियाँ भी पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थिर हो जाता है। नसार-दशा का अन्त हो जाता है। शेष चारो नाम, गोत्र, अन्तराय और आयुष्य आदि अध्यात्मिक कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

गुणस्थान का अन्त होना ही जन्म-मरण का अन्त होना है। आत्मा विदेह अवस्था प्राप्त कर शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

गुणस्थानों के सम्बन्ध में विचार करने से आत्मा के उत्क्रान्ति क्रम की कल्पना आ सकेगी। प्रत्येक आत्मा पहले-पहल प्राथमिक भूमिका में होता है। तत्पश्चात् आत्मवल प्रकट होने पर उभर आता है। चतुर्थ भूमिका में आने पर उसकी दृष्टि यथार्थ हो जाती है। दृष्टि सिद्ध होने के पश्चात् वह क्रियात्मक रूप से मुक्तिपथ पर चलना आरम्भ करता है और वारहवे गुणस्थान में निरावरण होकर तेरहवे गुणस्थान में सशरीर परमात्मा बन जाता है। चौदहवे गुणस्थान के अन्त में मुक्तिधाम प्राप्त कर लेता है।

उत्क्रान्ति के इस क्रम से यह भी स्पष्ट होगा कि जैनधर्म ने किसी एक को अनादि सिद्ध परमात्मा स्वीकार नहीं किया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्मपद पाने का अधिकारी है।



‘अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाणय सुहाणय ।
अप्या मित्तममित्तं च, दुपट्ठये, सुपट्ठओ !’

आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने, और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र (घत्रु) है।

—उत्तराध्ययन २०, ३७ ।

मानव अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। अदृष्ट अथवा किसी अन्य प्रकार की रहस्यात्मक सत्ता की पराधीनता को जैनधर्म स्वयं एक मानसिक दासता समझता है। शुभ-कर्म और अशुभ-कर्म फल देने की शक्ति स्वयं रखते हैं। जैसे परमाणु और परमाणुओं के परिवर्तन की शक्ति परमाणु से भिन्न किसी सत्ता के पास में नहीं होती है। परिवर्तित होना, यह तो परमाणु का ही स्वयं का गुण है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर, देव आदि किसी के माध्यम और किसी के अनुग्रह पर हमारा भाग्य अवलम्बित नहीं है और अपने भाग्य का विधान हमने स्वयं निर्माण किया है। हमारी क्रिया, हमारे यौगिक-स्पन्दन, काषायिक सस्पर्ग तथा हमारा वातावरण और भावना की मंदता या तीव्रता, कर्म के परमाणुओं का हमारी आत्मा के साथ में बन्धन जोड़ते हैं, जो अवसर प्राप्त होते ही हमारे अन्तर्मन को फल की ओर प्रेरित कर देते हैं। यह निश्चित है कि जैनधर्म आत्मा को कर्म करने में स्वतंत्र मानता है, किंतु भोगने में आत्मा कर्मों के आधीन हो जाती है। ‘शुभ करो, शुभ होगा’—‘अशुभ करो, अशुभ होगा’ यही कर्मवाद का सिद्धान्त है।

कर्मवाद



कर्मवाद

सभी आस्तिक दर्शनो ने एक ऐसी सत्ता अंगीकार की है जो जीवतत्त्व को प्रभावित करती है। उसे स्वीकार किये बिना जीवो में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली विषमता की, तथा एक ही जीव में विभिन्न कालो में होने वाली विरूप अवस्थाओं की सगति किसी भी प्रकार संभव नहीं है। सब जीव स्वभावतः समान हैं तो एक मनुष्य और दूसरा कीट के रूप में क्यों है ? अगर जीव नित्य है तो मृत्यु उसे क्यों अपना शिकार बना लेती है ? अगर विराट् चैतन्य उसका स्वरूप है तो जडता और अज्ञान के गहन अधकार में जीव क्यों ठोकरे खा रहा है ? अमूर्त है तो शरीर के कारागार में क्यों बद्ध है ? इस प्रकार की प्रश्नमाला जीव-विरोधी दूसरी सत्ता को स्वीकार किये बिना समाधान नहीं पाती।

वह सत्ता वेदान्त में माया या अविद्या, सांख्य में प्रकृति और वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट नाम से अंगीकार की गई है। जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है। प्रत्येक दर्शन में उस सत्ता का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का है। किन्तु जैनदर्शन में कर्म का जैसा सागोपाग और तर्क-सगत विवेचन है, वह अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। जैनाचार्यों ने कर्म-सिद्धान्त पर विपुल साहित्य-सृजन किया है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं, जिन्हें जैनपरिभाषा में वर्गणाएँ कहते हैं। उनमें एक कर्मण-वर्गणा भी है और वही कर्म-द्रव्य है। कर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक

में सूक्ष्म रज के रूप में व्याप्त है। वही कर्मद्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और 'कर्म' कहलाने लगते हैं।

कर्म विजातीय द्रव्य होने के कारण आत्मा में विकृति उत्पन्न करते हैं, और उसे पराधीन बनाते हैं। आत्मा—पर पदार्थों का उपभोग करता हुआ—राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है। सुख-दुःख की वह अनुभूति तो तत्काल ही समाप्त हो जाती है, किन्तु अवशिष्ट रहे हुए संस्कार समय आने पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं।

संसार के प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष की वृत्ति काम करती है। वही प्रवृत्ति अपना एक संस्कार छोड़ जाती है। उस संस्कार से पुनः प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुनः संस्कार का निर्माण होता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की तरह यह सिलसिला सनातन काल से चला आ रहा है।

कर्म सिद्धान्त की भाषा में यही बात यों कही जाती है—कर्म दो प्रकार के हैं—

१ द्रव्यकर्म (कर्मवर्गणाएं) और भावकर्म अर्थात् राग-द्वेष आदि विषय भाव। दोनों में द्विमुख कार्य-कारण भाव है। द्रव्यकर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। आगे यह है कि पूर्ववद्ध द्रव्यकर्म जब अपना विपाक देते हैं तो जीव में भावकर्म—रोषादि विभाव—उत्पन्न होते हैं और उन भाव-कर्मों से पुनः द्रव्यकर्म उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्रम अनादि है, परन्तु उसका अन्त हो सकता है।

कर्मवद्ध आत्मा, विष्व की समस्त वस्तुओं को अनुकूल और प्रतिकूल मानकर दो भागों में बांट लेता है। वह कभी नहीं सोचता कि मैं संसार के जीवों के लिए अनुकूल हूँ या प्रतिकूल हूँ; किन्तु संसार के पदार्थजात को और प्राणीजाति को अवश्य दो भागों में विभक्त कर लेता है। उसकी विचार लहरियों की परिसमाप्ति यही नहीं हो जाती, अपितु वह अनुकूल समझे हुए पर राग करता है, और प्रतिकूल समझे हुए को संसार से मिटा देना चाहता है। यही राग-द्वेष वृत्तियों का उद्गमस्थल है। इन्हीं वृत्तियों से कर्मद्रव्यों का आकर्षण होता है और अनन्त-अनन्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जब तक आत्मा में राग-द्वेष की सत्ता है तब तक प्रत्येक क्रिया कर्म का रूप धारण कर आत्मा के लिए बन्धनकारक बनती ही जाएगी।

फल देने के लिए कर्मों को किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं है, और न ही किसी की आज्ञा की आवश्यकता है। कोई मनुष्य मद्यपान करता है, तो उन्माद उत्पन्न करने के लिए मदिरा को किसी की सहायता नहीं चाहिए। उसके सेवन से ही मनुष्य में उन्मत्तता आ जाती है, दुग्धसेवन से पोषण मिलता है, भोजन से क्षुधानिवृत्ति होती है और पानी से तृषा शान्ति होती है। इन सब जड़ पदार्थों को अपना फल देने के लिए किसी अन्य सहारे की तलाश नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार जड़ होने पर भी कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करते हैं।

कर्म करने की स्वतन्त्रता जीव को प्राप्त है, किन्तु फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि भोजन करते समय किसी प्रकार का अवांछनीय काषायिक आवेग, क्रोध आदि नहीं होना चाहिए और मानसिक सन्ताप के होने पर भोजन विष बन जाता है। भोजन के समय मन शान्त, प्रशस्त एवं मध्यस्थ हो तो भोजन अमृत बन जाता है। यही बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है। अन्तःकरण में जैसे-जैसे शुभ या अशुभ, प्रशस्त या अप्रशस्त भाव होते हैं, उसी प्रकार का कर्म-रस बनता है, तो जैसे हमारे मनोवेग भोजन के रस को शुभ या अशुभ बना देते हैं, उसी प्रकार वे कर्मों को भी शुभ या अशुभ, रूप में परिणत कर देते हैं।

कर्मबन्ध का प्रधान कारण मन है, और उसके सहायक वचन तथा काय है। मन, वचन और काय की अनन्त-अनन्त वृत्तियाँ शुभ भी होती हैं और अशुभ भी होती हैं।^१ हिंसा, चोरी, मैथुन आदि काय के अशुभ व्यापार हैं दया, सेवा, ब्रह्मचर्य कषाय के शुभ व्यापार हैं (असत्य और कटु भाषण) वाणी का अशुभ व्यापार है और निरवद्य, सत्य एवं मधुर भाषण वाणी का शुभ व्यापार है। किसी के वध, बन्धन आदि का विचार करना मानसिक अशुभ व्यापार है और भलाई सोचना तथा पर का उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि शुभ व्यापार हैं। शुभ व्यापारों से पुण्य कर्म का और अशुभ व्यापार से पापकर्म का बन्ध होता है। परन्तु यह नहीं भूल जाना है कि शुभ अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं।

एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए, परन्तु डाक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही

भागी होगा। उसके विपरीत, वही डाक्टर अगर कृपा से प्रेरित होकर ब्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।

कर्मबन्ध के मुख्य दो कारण हैं—कृपाय और योग^२। हमारे सब कारण इन्हीं दो में अन्तर्भूत हो जाते हैं। दसवे गुणस्थान तक इन दोनों कारणों की सत्ता रहती है। आगे के गुण स्थानों में सिर्फ योग ही कारण होता है। अतएव जो कर्माणु कृपायो और योग से बंधते हैं, वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं, और जो कृपाय के अभाव में सिर्फ गमनागमन आदि क्रियाओं के कारण बंधते हैं, वे ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं।

उच्चकोटि के साधक की स्थिति कृपायो की सीमा लाघकर समभावी भी हो जाती है और उस समय उसकी क्रिया भिन्न ही प्रकार की होती है। इस तथ्य को समझने के लिए जैनशास्त्रों में एक उदाहरण प्रसिद्ध है—

आत्मा को स्वच्छ दीवार, कृपायों को गोद और योग को वायु मान लिया जाय तो बन्ध की व्यवस्था सरलता से समझ में आ जायगी। आत्मा-रूपी दीवार पर जब कृपायो का गोद लगा रहता है तो योग की आँधी से उड़कर आई हुई कर्म-रूपी धूल चिपक जाती है। वह चिपक जितनी सबल या निर्बल होगी, बन्ध भी उतना ही प्रगाढ़ या शिथिल होगा और धूल र्वेत या काली जैसी भी होगी, वैसी चिपकेगी। हाँ, कृपाय का गोद यदि हट जाय और दीवार सूखी रह जाय तो धूल का आना-जाना तो नहीं रुकेगा, किन्तु चिपकना बन्द हो जाएगा। वस, यही अन्तर है साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मों में। कर्म परमाणुओं का आना योगवक्ति के बलाबल पर निर्भर है। किन्तु बन्धन की तीव्रता-मन्दता या चिपकन कृपायो के भावाभाव पर निर्भर है।

बन्धतत्त्व के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि स्थितिवन्ध और रस-बन्ध कृपाय से होता है। जब कृपायो की सत्ता नहीं रहती फिर न तो कर्म आत्मा में ठहरते हैं और न उनका अनुभव ही होता है, योग के विद्यमान रहने से कर्म आते तो हैं, मगर ठहर नहीं पाते हैं।

वास्तव में जन्म-मरण का मुख्य कारण कृपाय है। कृपाय के अभाव में

योग लंगड़े से हो जाते हैं। कपायो का अन्त होते ही आत्मा की पूर्णता प्राप्त हो जाती है और घातिक कर्मों का विध्वंस हो जाता है।

घातिक और अघातिक शब्दों से कर्मों की आक्रमण-शक्ति और वर्धरता को तथा मन्दता को सूचित किया गया है। जीव की अनन्त ज्ञान दर्शन आदि शक्तियों का घात करने वाले कर्म घातिक कहलाते हैं। उनमें कुछ सर्व-घाती होते हैं और कुछ देशघाती। कुछ कर्म ऐसे हल्के होते हैं जो जीव के गुण विकास में बाधक नहीं होते अथवा व्याघात नहीं पहुँचाते। वे अघातिक कहलाते हैं। उनकी विद्यमानता से सम्पूर्ण मुक्ति नहीं हो पाती, तथापि वे सहज ही नष्ट हो जाते हैं। वे जीवन्मुक्ति में बाधक नहीं होते हैं।

कर्मों का वर्गीकरण—कर्म मूलतः एक ही प्रकार के होने पर भी जीव के अध्यवसायो और मनोविकारों की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। अध्यवसाय और मनोविकार एक ही प्राणी के पल-पल में पलटते रहते हैं, अतएव उनकी कोई सख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है, फिर जगत् के जीव अनन्त हैं। क्योंकि कर्मों का स्वभाव, स्थितिकाल परिमाण और प्रभाव अध्यवसायो के अनुरूप ही निश्चित होता है। तथापि सुगमता से समझने के उद्देश्य से स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये गए हैं^१—

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६. नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

कर्मों का स्वभाव—

१. ज्ञानावरण—बादलों का बवडर जैसे सूर्य को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार जो कर्म पुद्गल हमारे ज्ञानतन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरण स्वभाव वाले कहलाते हैं। ज्ञान पाँच प्रकार के है, अतएव उसे आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म भी पाँच प्रकार का है^२—

१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४ मनः पर्यायज्ञानावरण, ५ - केवलज्ञानावरण।

२ दर्शनावरण—राजा के दरवार में जाते हुए पुरुष को जैसे द्वारपाल

१. प्रज्ञापनासूत्र, पद २१, उ० १, सू० २९९

२ उत्तराध्ययन, सूत्र अ० ३३, गा० २-३।

रोक देता है और राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो, वह दर्शनावरण कहलाता है ।

ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु का निर्विशेष बोध, जिसमें सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की प्राप्ति नहीं होती, दर्शन कहलाता है । दर्शनावरण कर्म से आवृत करता है । यह नौ प्रकार का है^१—

१. चक्षुदर्शनावरण—नेत्रशक्ति को अवरुद्ध करने वाला ।
२. अचक्षुदर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरोध करने वाला ।
३. अवधिदर्शनावरण—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन को रोकने वाला ।
४. केवलदर्शनावरण—परिपूर्ण दर्शन को आवृत करने वाला ।
५. निद्रा—सामान्य नीद ।
६. निद्रा—निद्रा गहरी नीद ।
७. प्रचला—बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा ।
८. प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा ।
९. स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में प्राणी बड़े-बड़े बलसाध्य कार्य कर डालता है, जागृतिदशा की अपेक्षा अनेक गुणा अधिक बलवान् हो जाता है ।

यह पांच प्रकार की निद्राएँ, दर्शनावरण कर्म के उदय का फल हैं ।

३ वेदनीय—तलवार की धार पर लगे शहद के समान सासारिक सुख की और दुःख की वेदना इसी कारण होती है । इसके दो भेद हैं—साता-वेदनीय और असातावेदनीय ।^२ सुख-रूप सवेदना का कारण सातावेदनीय और दुःख रूप सवेदना का कारण असाता-वेदनीय कर्म कहलाता है ।

४ मोहनीय—मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है, जो प्राणी-मात्र को विवेक विकल बना देता है । यह दो प्रकार का है—

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय^३—

सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना अथवा उसमें विकृति उत्पन्न करना, दर्शनमोहनीय कर्म का काम है । यह तीन प्रकार का है ।^४

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, स्थानांग सूत्र, स्थान ९ ९१८ ।

२. उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३ प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३ ।

३. उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३ ।

४. उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३ ।

- १ मिथ्यात्व मोहनीय —सत्य में असत्य एव अतत्त्व में तत्त्व की प्रतीति करना ।
२. सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय—सत्य और असत्य में मिश्रित श्रद्धा रखना ।
- ३ सम्यक्त्व मोहनीय —सम्यग्दर्शन में अशुद्धता पैदा करने वाला ।

चारित्रमोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है—कषाय-चारित्रमोहनीय और नौ कषाय चारित्रमोहनीय—क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं । इन चारों के भी चार-चार प्रकार हैं, जिनका वर्णन कषाय प्रकरण में किया जाएगा । इस प्रकार $4 \times 4 = 16$ कषायों का जनक कषाय मोहनीयकर्म भी सोलह प्रकार का है ।^१

कषाय को भड़काने वाली नौ मनोवृत्तियाँ हैं । जिन्हें नौ कषाय कहा गया है । वे ये हैं^२—

- १ हास्य — जिससे हँसी आवे ।
२. रति — अनुरक्ति-स्नेह राग ।
- ३ अरति — जिससे अरुचि, द्वेष उत्पन्न हो ।
४. शोक — जिसके कारण शोक का भाव उत्पन्न हो ।
५. भय — जिसके कारण भीति उत्पन्न हो ।
६. जुगुप्सा — जिसके कारण घृणा उत्पन्न हो ।
- ७ स्त्रीवेद — जिसके कारण पुरुष से सहवास करने की इच्छा हो ।
- ८ पुरुषवेद — जिसके कारण स्त्री से सहवास करने की इच्छा हो ।
- ९ नपुंसकवेद — जिसके कारण स्त्री-पुरुष दोनों के सहवास की कामना उत्पन्न हो ।

यह सब मिलकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद हैं । यह कर्म प्राणी की वास्तविक श्रद्धा-विवेक को जागृत नहीं होने देता और साथ ही विविध प्रकार के मनोविकारों को उत्पन्न करके सम्यक् चारित्र को नहीं पनपने देता । मोहकर्म इतर कर्मों का जनक और बड़ा प्रबल है ।

१ प्रज्ञापना सूत्र, पद २३, तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, ९ ।

२ प्रज्ञापना सूत्र, पद २३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० २ ।

५ आयुर्कर्म—लोहे की वेडी के समान है, जिसके खुले त्रिना स्वाधीनता के सुख का अनुभव नहीं हो सकता। यह कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर में नियत अवधि तक कैद रखता है।^१ हमारी यह जीवित दशा इसी कर्म का फल है।

६ नामकर्म—चित्रकार विभिन्न रंग सजो-संजो कर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म जगत् के प्राणियों के नाना आकार प्रकार वाले शरीरों की रचना करता है। प्राणी सृष्टि में जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य हमें दिखाई देता है, उसका कारण यही कर्म है। जैनागमों में इसके अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद दिखलाये गये हैं। उन सबका उल्लेख न करके यहाँ ४२ भेदों को ही बतला देना पर्याप्त होगा।^२

१. गति नाम कर्म—जिसके प्रभाव से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकी चार गतियों में से एक गति पाता है।

२ जाति नाम कर्म—जिसके कारण जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्याय प्राप्त करता है।

३. शरीर नाम कर्म—जिससे जीव के पांच प्रकार के शरीरों में से गति के अनुरूप शरीर प्राप्त होते हैं।

४. अंगोपाग नाम कर्म—इस कर्म के प्रभाव से शरीर के अंगों और उपांगों का निर्माण होता है।

५. बन्धन नाम कर्म—यह वह कर्म है जिसके कारण पूर्व-गृहीत पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का सम्बन्ध होता है।

६. सघात नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित हो जाए।

७. संहनन नाम कर्म—इससे शरीर के अस्थिपजर की दृढ या शिथिल रचना होती है।

८. सस्थान नाम कर्म—इससे शरीर की नाना प्रकार की आकृतियाँ बनती हैं।

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना सूत्र, २३।

२. प्रज्ञापना सूत्र सं० २९३।

९. वर्ण नाम कर्म—इस कर्म से शरीर में गोरा-काला आदि रंग उत्पन्न होता है ।

१०. गन्ध नाम कर्म—इस कर्म से शरीर में विशिष्ट गन्ध उत्पन्न होती है ।

११. रस नाम कर्म—यह शरीर में रस उत्पन्न होने के कारण है ।

१२. स्पर्श नामकर्म—इससे शरीर में किसी विशेष प्रकार का स्पर्श उत्पन्न होता है ।

१३. आनुपूर्वी नाम कर्म—नया शरीर धारण करने के लिए जीव को किसी नियत स्थान पर पहुँचाने वाला ।

१४. विहायोगति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी या बुरी हो ।

यह चौदह भेद पिण्ड प्रकृतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक के अनेक भेदोपभेद होते हैं ।

१५. अगुरुलघु नाम कर्म—हमारा शरीर शीशे (धातु) की तरह एकदम भारी और आक की रूई की तरह एकदम हल्का नहीं है, यह इस कर्म का फल है ।

१६. उपघात नाम कर्म—अगुली में छठी अगुली की तरह “अपना ही अंग अपने को पीडा कारक होना”, इस कर्म का फल है ।

१७. पराधान नाम कर्म—जिसके फल स्वरूप शरीर के अवयव पर पीडा-कारी न बने ।

१८. आतपनाम कर्म—उष्ण प्रकाश रूप शरीर बनाने वाला ।

१९. शीतल प्रकाशमय—शरीर के निर्माण का कारण ।

२०. उच्छ्वास नाम कर्म—हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, वह इसी कर्म का अनुभव है ।

२१. निर्माण नाम कर्म—जिससे अंग सुघड एव यथायोग्य बनते हैं ।

२२. तीर्थकर नाम कर्म—वह कर्म, जिसके प्रभाव से जीव तीर्थकर बनकर त्रिलोकपूज्य होता है । इनमें त्रसदशक और स्थावरदशक नाम से प्रसिद्ध बीस प्रकृतियाँ जोड़ देने से ४२ भेद होते हैं । वे प्रकृतियाँ ये हैं—

१ त्रस नाम कर्म—जिससे त्रस पर्याय प्राप्त हो ।

२ वादर—जिससे अपेक्षाकृत स्थूल शरीर बने ।

३. पर्याप्त—जिस कर्म के प्रभाव से पुनर्जन्म के समय नवीन शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर आदि की छ. प्रकार से पूर्णता प्राप्त की जाय ।

४. प्रत्येक—जिससे एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो ।

५. स्थिर—यह कर्म अगोपागो को अपने-अपने स्थान पर स्थिर बनाये रखता है ।

६. शुभ—जिससे शुभ की प्राप्ति हो ।

७. सुभग—सौन्दर्य प्राप्त कराने वाला ।

८. सुस्वर—जिससे मधुर स्वर मिले ।

९. आदेय—जिसके प्रभाव से दूसरो पर हमारी बात का असर हो ।

१०. यग. कीर्ति—जिससे यग कीर्ति का प्रसार हो ।

स्थावर-दगक—१. स्थावर, २ सूक्ष्म, ३ अपर्याप्त, ४ साधारण, ५. अस्थिर, ६. अशुभ, ७ दुर्भग, ८. दुस्वर, ९ अनादेय, १०. अयग अकीर्ति ।

नाम से ही स्पष्ट है कि यह दग कर्म पूर्वोक्त दगों से ठीक विपरीत है ।

यह सब मिलकर नाम कर्म के ब्यालीस भेद हैं । वास्तव में नाम कर्म का कार्य शरीर की रचना करना, उसकी विभिन्न आकृतियाँ बनाना जीव को नवीन जन्म लेने के स्थान पर पहुंचाना, त्रस या स्थावर रूप देना, शरीर में किसी भी प्रकार का रग-रूप आदि उत्पन्न करना, सुन्दर-असुन्दर स्वर बनाना, आदि-आदि है । यद्यपि रग-रूप एव स्वर आदि में बाहर के भी कारण अपेक्षित हैं, मगर अन्तरग का कारण नाम कर्म ही है ।

इस कर्म का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है, अतएव इसकी प्रकृतियों की संख्या भी अन्य कर्मों से अधिक है ।

७. गोत्रकर्म—जैसे कुम्हार छोटे बड़े वर्तन बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गोत्रकर्म है । यह दो प्रकार का है—

१ उच्च गोत्र, २ और नीच गोत्र ।^१

१. प्रज्ञापना सूत्र, पद २३-९, २९४ ।

८ अन्तराय कर्म—यह अभीष्ट की प्राप्ति में अडगा लगा देने वाला कर्म है। यह पाँच प्रकार का है।^१

- | | | |
|----------------|---|--|
| १ दानान्तराय | — | जिसके कारण दान देने की इच्छा होने पर भी दान न दिया जा सके। |
| २ लाभान्तराय | — | लाभ में बाधा डालने वाला। |
| ३ भोगान्तराय | — | भोग-प्राप्ति में बाधक। |
| ४ उपभोगान्तराय | — | उपभोग (पुन पुन काम में आने वाली वस्त्रादि वस्तु) की प्राप्ति में बाधक। |
| ५ वीर्यान्तराय | — | वीर्य-सामर्थ्य के विकास में बाधक। |

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कहलाते हैं और शेष चार अघातिक हैं।

आठ कर्मों के इस दिग्दर्शन से पाठक समझ सकेंगे कि कर्म का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जीव की सभी आन्तरिक वृत्तियाँ और साथ ही बाह्य आकृतियाँ कर्म का ही प्रताप हैं। जैन सिद्धान्त में कर्मों का वर्णन इतना व्यवस्थित है कि उसमें कहीं क्षति या न्यूनता नजर नहीं आती।

कर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत उनकी विभिन्न दशाओं को भी समझ लेना आवश्यक है। वे मुख्य रूप में दश हैं।^२

- | | | |
|-------------|---|---|
| १ वन्व | — | कर्मों का आत्मा के साथ बद्ध होना और उनमें पहले कहीं हुई चार बातें—स्वभाव, काल, मर्यादा, प्रभाव और परिमाण उत्पन्न हो जाना। |
| २. उत्कर्षण | — | बद्ध हुए कर्मों की कालमर्यादा और फल-वृद्धि हो जाना। |
| ३ अपकर्षण | — | काल-मर्यादा और फल में न्यूनता हो जाना। |

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८-१३।

२. नव्य-संग्रह टीका, गा० ३३।

कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का बन्ध करके शुभ विचार कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। उसके बाद के इस विचार और व्यवहार का असर पहले के अशुभ कर्मों पर पड़ता है और वह यह कि उनकी लम्बी काल-मर्यादा और विपाक-शक्ति में कमी हो जाती है। इसे अपकर्षण कहते हैं। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति में जीव कालमर्यादा और विपाक-शक्ति में वृद्धि भी कर लेता है वही उत्कर्षण कहलाता है।

४. सत्ता—कर्म बन्धते ही अपना असर नहीं प्रकट करने लगते। जैसे मादक वस्तु का सेवन करते ही नशा नहीं आ जाता, धीरे-धीरे आता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध के पश्चात् बीच का नियत समय, जिसे अवाधाकाल कहते हैं, समाप्त होने पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने के और फलोदय पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं। जैनशास्त्रों में वह अवस्था 'सत्ता' के नाम से प्रसिद्ध है।

५. उदय—कर्म का फलदान उदय कहलाता है। अगर कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो तो वह फलोदय, और फल दिये बिना ही नष्ट हो जाए तो वह प्रदेशोदय कहलाता है।

६ उदीरणा—महीना-बीस दिन में वृक्ष पर पकने वाले फल को लोक कृत्रिम गर्मी पहुंचाकर एक ही दिन में पका लेते हैं, इसी प्रकार बन्ध के समय नियत हुई कालमर्यादा में कमी करके कर्म को जल्दी उदय में ले आना उदीरणा है।

अपकर्षण के द्वारा स्थिति घट जाती है और नियत समय आने से पहले ही जब आयु पूरी भोग ली जाती है, तो उसे लोक-व्यवहार में कालमृत्यु और शास्त्रीय परिभाषा में आयुर्कर्म की उदीरणा कहते हैं।

७. संक्रमण—एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। एक कर्म अपने नजानीय दूसरे भेद में बदल सकता है। यह अद्वल-वद्वल में संक्रमण कहलाता है।

स्मरण रखना चाहिए कि मूल आठ कर्मों से एक कर्म पलट कर दूसरा कर्म नहीं बन सकता। पर एक ही कर्म की अवान्तर प्रकृति पलट सकती है। हाँ, इनमें दो अपवाद हैं। प्रथम यह कि आयुर्कर्म के अवान्तर भेदों का संक्रमण नहीं होता, मनुष्यायु अगर बन्ध चुकी है तो पलट कर वह देवायु, अन्य कोई आयु नहीं हो सकती। दूसरा अपवाद यह है कि दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय के रूप में नहीं पलटता, और चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय नहीं बनता।

८. उपशम—कर्मों को विद्यमान रहते भी उदय में आने के लिए अक्षम बना देना उपशम है। जैसे अगार को राख से ऐसा दवा देना कि वह अपना काय न कर सके।

९. निधत्ति—कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

१०. निकाचना—कर्मों का ऐसे प्रगाढ रूप में बन्धना कि उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि न हो सके (इसमें भी विरल अपवाद हो सकता है)।

कर्मक्षय से लाभ—जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता, न्यून करता या विकृत करता है, उसके क्षय से वही शक्ति प्रकट होती, पूर्ण होती या वृद्ध होती है। सुगमता के लिए उसका निर्देश कर देना अनुचित न होगा।

१. जानावरण के हटने से अनन्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है।

२. दर्शनावरण के हटने से अनन्त दर्शनशक्ति जागृत होती है।

३. वेदनीय का क्षय अनन्त सुख प्रकट करता है। !

४. मोहनीय के क्षय से परिपूर्ण सम्यक्त्व और चारित्र्य का आविर्भाव होता है।

५. आयुर्कर्म के क्षय से अजर-अमरता की अनन्तकालीन स्थिति प्राप्त होती है।

६. नामकर्म के क्षय से अमूर्त्तत्व गुण प्रकट होता है। जिसे अनन्त मुक्तात्मा एक ही जगह अवगाहन कर सकते हैं।

७. गोत्र कर्म से अगुरुलघुत्व गुण प्राप्त होता है।

८. अन्तराय के क्षय से अनन्त शक्ति व विपुल लाभ प्राप्त होती है।

९. कर्म-बन्ध और कर्म-क्षय की प्रक्रिया का वर्णन तत्त्वचर्चा में किया जा चुका है।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया

आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है। वह उत्पाद और विनाश से रहित होने पर भी परिणामी है। बाह्य और आन्तरिक कारणों से उसमें अनेक पर्याय उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। ऐसा न होता तो पुनर्जन्म भी सम्भव न होता और पुण्य-पाप के फलस्वरूप होने वाले सुख-दुःख का भोग भी मगत न होता।

यो तो परिणाम की धारा अविराम गति से प्रवाहित हो रही है, कोई क्षण नहीं जिसमें मूल अवस्था का सूक्ष्म परिवर्तन न होता हो, फिर भी सब से

स्थूल परिवर्तन पुनर्जन्म का है। आत्मा अपने वर्तमान शरीर का परित्याग करके नूतन शरीर ग्रहण करती है। यही पुनर्जन्म है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में एक विचारक ने लिखा है कि—‘मनुष्य इकाई नहीं है, परन्तु अनेकता का पुञ्ज है, वह सुषुप्त है, वह स्वयं चालित है। वह भीतर से असतुलित है, उसे जागना चाहिए। एक होना चाहिए, अपने आप संश्लिष्ट और मुक्त होना चाहिए। मनुष्य की कल्पना एक बीज से की जाती है, जो कि बीज के नाते मर जायेगा, और पौध के रूप में पुनर्जीवित होगा। गेहूँ की दो ही सम्भावनाएँ हैं, या तो वह पिस कर आटा बन जाए, और रोटी का रूप ले ले, या उसे फिर बो दिया जाए, जिससे अकुरित होकर वह फिर पौधा बन जाय। मनुष्य, सम्पूर्ण और अन्तिम सत्ता नहीं है, वह ऐसी सत्ता है जो अपने आप को बदल सकती है, जो पुनर्जन्म ले सकती है। यह परिवर्तन घटित करके पुनः-पुनः जन्म लेने के लिए, जागरित होने के लिए, यत्न करना सभी धर्मों का ध्येय है।’^१

जैनधर्म के अनुसार जीव आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है। अपने जीवन-काल में जीव क्षण-क्षण में पूर्ववद्ध आयुकर्म के दलिको (पुद्गलो) को भोग रहा है।^२ युक्त दलिक पृथक् होते जाते हैं और जब आयुकर्म के समस्त दलिक भोग लिए जाते हैं तब जीव को वर्तमान शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना पड़ता है।

यह एक अटल प्राकृतिक नियम है कि मृत्यु से पूर्व ही जीव अगले जन्म के लिए आयु बाध लेता है। पहले की आयु समाप्त होते ही वह उस शरीर का त्याग कर देता है और उसी समय नवीन आयुकर्म का उदय हो जाता है। इसी स्थिति में जीव अगली योनि के लिए आता है।

आयुकर्म के दलिको का भोग दो प्रकार से होता है, जिसे हम प्राकृतिक और प्रायोगिक कह सकते हैं। स्वाभाविक क्रम से जो दलिक, जब उदय होने लगता है, उसी उसका समय भोग उदय में आता है, यही प्रथम प्रकार है। मगर कभी-कभी आयुदलिक नियत समय से पहले ही उदय में आ जाते हैं इसे अकाल-मृत्यु या आकस्मिकमरण भी कहते हैं, इसके सात कारण हैं—

१. “बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष” में सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ।

२. आचोचिकमरण, भगवती, शतक १३, उ०७, पा० १९।

अञ्जवसाणनिमित्ते, आहारे, वेयणाअपराघाते ।

फासे आणापाणू, सत्तविहं द्विज्जए आज्ज ॥

ठाणाग सूत्र, ठाणा ७ ।

अर्थात्—१ अत्यन्त तीव्र हर्ष-शोक आदि, २ विष-शस्त्र आदि का प्रयोग, ३ आहार की अत्यधिकता या सर्वथा अप्राप्ति, ४. व्याधिजनित वेदना, ५ आघात, ६ सर्प आदि का दशन और ७ श्वासनिरोध, इन सात कारणों से आयु का क्षय होता है, तात्पर्य यह है कि जो आयु धीरे-धीरे भोगी जाने वाली थी, वह इन में से किसी भी एक कारण के उपस्थित होने पर शीघ्र भोग ली जाती है ।

आयु भोग लेने के पश्चात् आत्मा के प्रदेग कभी-कभी बन्दूक से गोली की भाँति शरीर से बाहर एकदम निकल जाते हैं, और कभी धीरे-धीरे निकलते हैं । एकदम निकल जाना “समोहिया-मरण” कहलाता है, और धीरे-धीरे निकलना “असमोहिया-मरण” कहलाता है ।

मरण के पश्चात् गति नामकर्म के उदय के अनुसार जीव को अगली गति में जाना पडता है । उसे नवीन जन्म के योग्य स्थान में पहुँचा देना आनुपूर्वी नामकर्म का काम है । आनुपूर्वी नामकर्म उसे नियत उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुँचा देता है ।

पुरातन शरीर त्याग कर नूतन शरीर ग्रहण करने के लिए जीव की जो गति होती है, वह विग्रहगति कहलाती है । विग्रह अर्थात् इस शरीर से नये शरीर में जाने के लिये आत्मा की गति को विग्रहगति कहते हैं ।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि जैसे पृथ्वीतल पर बने हुए मार्गों से मनुष्यों का आवागमन होता है, उसी प्रकार गगनतल में बनी हुई श्रेणियों के अनुसार ही जीव की गति होती है । पुनर्जन्म के लिए जाने वाले जीव को यदि सीधी श्रेणी मिल जाए तो, उसे इस महायात्रा में सिर्फ एक समय लगता है । सीधी श्रेणी न हो, और एक बार मुड़ना पड़े, तो दो समय और दो मोड़ खाने पड़े, तो तीन समय लगते हैं । साधारणतया तीन समय में ही जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँचता है, विरला अवसर ऐसा होता है कि जब चार समय लग जाते हैं ।

विग्रहगति के समय यद्यपि स्थूल शरीर नहीं रहता, तथापि कार्मण और तेजस नामक दो सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहते हैं । कार्मण शरीर के द्वारा ही उस समय जीव का व्यापार होता है, और वह उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है ।

उत्पत्ति स्थान पर पहुँचते ही जीव का अपने योग्य नई सृष्टि रचना पड़ती है।

जनागमो मे छः पर्याप्तियाँ मानी गई हैं। पर्याप्ति का अर्थ है 'पूर्णता'। वे ये हैं—

१. आहारपर्याप्ति, २ शरीर-पर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति। ४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, ५ भाषा-पर्याप्ति और ६ मन-पर्याप्ति।

- | | | |
|---------------------------|---|---|
| १. आहार पर्याप्ति | — | अपनी गति के अनुसार शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति की पूर्णता। |
| २. शरीर-पर्याप्ति | — | शरीर-निर्माण की शक्ति की पूर्णता। |
| ३. इन्द्रियपर्याप्ति | — | इन्द्रियो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने और उन्हें इन्द्रियो के रूप में परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता। |
| ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति | — | श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने, उन्हें श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करने और फिर छोड़ने की शक्ति की पूर्णता। |
| ५. भाषा-पर्याप्ति | — | भाषावर्गणा के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके, भाषा-रूप में परिणत करके, बोलने की शक्ति की पूर्णता। |
| ६. मन-पर्याप्ति | — | मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके, उन्हें मन के रूप में परिणत करके, और उनकी सहायता से मनन करने की शक्ति की पूर्णता। |

उत्पत्ति-स्थान में जीव सर्वप्रथम इन शक्तियों को प्राप्त करता है। इन में से एकैन्द्रिय जीवों को चार, द्वीन्द्रिय से लेकर अमनस्क पचेन्द्रिय तक के जीवों को पाच और ममनस्क पचेन्द्रिय जीवों को छहो शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

इन शक्तियों के द्वारा जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्माण करता है। निर्माण करने की यह शक्तियाँ उसे लगभग पौन घटे में प्राप्त हो जाती हैं,

फिर धीरे-धीरे निर्माण कार्य चलता रहता है। पर देवों और नारकों के जन्म की प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की है जो अन्य ग्रन्थों से जानी जा सकती है।

जैनशास्त्रों के अनुसार जन्म तीन प्रकार के है—

१ गर्भ २ सम्मूर्च्छिम ३. उपपात ।

माता-पिता के रज-वीर्य के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म गर्भ-जन्म है। इधर-उधर के पुद्गलों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म सम्मूर्च्छिम-जन्म कहलाता है। देव और नारक जीवों का जन्म उपपात जन्म कहलाता है।

जरायुज, अर्थात् पतली-सी झिल्ली में लिपटे हुए जन्म लेने वाले मनुष्य आदि। अण्डे से जन्म लेने वाले पक्षी आदि, और पोतज अर्थात् जन्म लेने के पश्चात् जल्दी ही दौड़-भाग कर सकने वाले हरिण आदि गर्भज होते हैं। नाना प्रकार के कीड़े-मकौड़े आदि जीवों का जो गर्भज नहीं है, सम्मूर्च्छिमज होते हैं। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। सृष्टि के समस्त प्राणी इन तीनों में से किसी एक प्रकार से जन्म धारण करते हैं।

हाँ, जो महाभाग नवीन आयु का बन्ध नहीं करते, और कर्मण शरीर का भी अन्त कर देते हैं, वे अजन्मा हो जाते हैं। वे जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं।



धम्मज्जियं च व्यवहारे, बुद्धेहायरियं सया ।
तमायरतो व्यवहारं, गरहं नाभि गच्छई ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४२ ।

धर्महीन नीति जगत् के लिए अभिशाप है, और नीतिहीन धर्म कोरी वैयक्तिक साधना है, अतः महावीर कहते हैं कि—

हे साधक, जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषो ने जिनका सदा आचरण किया उन व्यवहारो का आचरण करने वाला पुरुष कभी निन्दा को प्राप्त नहीं होता ।

चारित्र और नीतिशास्त्र

चारित्र्य और नीतिशास्त्र

द्विविध धर्म

चारित्र्य का महत्त्व—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की त्रिवेणी धारा सीधी मुक्ति की ओर वही जा रही है^१ किन्तु मानव अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई में प्रवेश करता है। उद्देश्य सिद्धि के सही पथ को पहचान लेना, ज्ञान की बात रही, और उस पर विश्वास प्रकट करना श्रद्धा की बात, किन्तु चलना तो अपनी-अपनी शक्ति पर ही निर्भर है।

कोई मन्दगति से चल पाता है, किन्तु कोई तीव्रगति से चलने में समर्थ होता है। तीव्र चलने वाले को अपनी तमाम मनोवृत्तियों को केन्द्रित, इन्द्रियों को नियन्त्रित, तथा उपाधि को स्वल्प-स्वल्पतर करके भागना पड़ता है। यदि भागना सम्भव नहीं हो तो मन्द-मन्द चलना सुविधानुसार भी हो सकता है। भगवान् महावीर ने यही तथ्य यो व्यक्त किया है—

धम्मो द्विहे पणत्ते, तज्जहा—अगारधम्मो चेव, अणगार—धम्मो चेव ।

ठाणागसुत्त, स्था० २ ।

१. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० १, सू० १ ।

धर्म अर्थात् मुक्तिमार्ग पर चलने के प्रकार दो हैं—

१. अगार धर्म और २. अनगारधर्म ।

गृहस्थी में रहते हुए और पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को निभाते हुए मुक्तिमार्ग की साधना करना अगारधर्म है । जिसे श्रावकधर्म या गृहस्थधर्म भी कहते हैं । जो विशिष्ट साधक गृह-त्याग कर साधु जीवन अंगीकार करते हैं, पूर्ण अहिंसा और सत्य की आराधना के लिए अस्तेय, ब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह को अंगीकार करते हैं उनका आचार अनगारधर्म कहलाता है ।

यद्यपि श्रावक और साधु, मुक्ति की साधना के लिए जिन व्रतों का पालन करते हैं, वे मूलतः एक ही हैं, परन्तु दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं । अतः उनके व्रतपालन की मर्यादा में भी भिन्नता होती है । समस्त लौकिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर, सयम और त्याग में ही रमण करने वाला साधु जिन अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालता है, श्रावक उन्हें आंशिक रूप में पाल सकता है । इस प्रकार योग्यता-भेद के कारण ही अगारधर्म और अनगारधर्म का भेद किया गया है । तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतों को पूर्ण रूप से पालने वाला साधक, साधु या महाव्रती कहलाता है, और आंशिक रूप में पालन करने वाला साधक श्रावक कहलाता है ।

व्रतविचार

व्रत की परिभाषा—जीवन को सुघड बनाने वाली, आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं । अथवा जो मर्यादाएँ सार्वभौम हैं, जो प्राणी मात्र के लिए हितावह हैं, और जिनसे स्वपर का हित-साधन होता है, उन्हें नियम या व्रत कहा जा सकता है । अपने जीवन में अथवा अनुभव में आने वाले दोषों को त्यागने का जब दृढ सकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती है ।^१

व्रत की आवश्यकता—सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियन्त्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते हैं । इसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और प्रगतिशील बनाये रखने के लिए व्रतों की आवश्यकता है । जैसे

१. निश्चाल्यो व्रती, तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र, १८, आवश्यक चतु०

किनारो के अभाव में प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवन-शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन-शक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता है।

आकाश में ऊँचा उड़ने वाला पतंग सोचता है—“कि मुझे डोर के बन्धन की क्या आवश्यकता है? यह बन्धन न हो तो मैं स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हूँ”; किन्तु हम जानते हैं कि डोर टूट जाने पर पतंग की क्या हालत होती है। डोर टूटते ही पतंग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भग हो जाता है, और उसे धूल में मिलना पडता है। इसी प्रकार जीवन-पतंग को उन्नत रखने के लिए व्रतों की डोर के साथ बन्धे रहने की आवश्यकता है।

मूलभूत दोष—प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न प्रकार के दोष पाये जाते हैं। उनकी गणना करना संभव नहीं। तथापि उन सब दोषों के मूल की यदि खोज की जाए तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पाँच हैं। जो शेष समस्त दोषों के जनक हैं और जो व्यक्ति के जीवन में पनप कर उसे नाना प्रकार की बुराइयों का पात्र बना देते हैं। वे यह हैं^१—

१. अहिंसा, २. असत्य, ३. अदत्तादान, ४. मैथुन और, ५. परियह।

इन पाँच दोषों के कारण ही मानवता सत्रस्त होती और कुचली जाती है। इन्हीं के प्रभाव से मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, स्वार्थी, प्रपची, मिथ्याभावी और न जाने किन-किन बुराइयों का घर बन जाता है। यही दोष हैं जो आत्मा के उत्थान के मार्ग में चट्टान की भाँति आड़े आते हैं, और जब मनुष्य इन पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे महात्मा एव परमात्मा बनने में क्षण भर का विलम्ब नहीं लगता।

यह दोष मानव तथा अन्यान्य जीवधारियों में भी जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण प्रश्रय पा रहे हैं। वस्तुतः यही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं। राग और द्वेष इनके जन्मदाता हैं।

पूर्वोक्त पाँच दोषों में भी हिंसा सबसे बड़ा दोष है, सब से बड़ा पाप है और वही अन्य समस्त पापों का जनक है।

साधारणतया प्राणघात को हिंसा कहते हैं, परन्तु हिंसा और अहिंसा

का स्वरूप गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन की अपेक्षा रखता है। हिंसा, प्रमाद में ' और अहिंसा विवेक में छिपी हुई है। मनोभावना ही हिंसा-अहिंसा की निर्णायक कसौटी है। किसी के प्राणों का वध हो जाना ही हिंसा नहीं है, किन्तु प्रमादवश अर्थात् राग-द्वेष के वशीभूत होकर प्राणों का जो वध किया जाता है वही हिंसा है।^१

प्रश्न हो सकता है कि—“किसी प्राणी की रक्षा करते हुए अगर उसके प्राणों की हानि हो जाए, अथवा अपनी ओर से सावधान रहने पर भी अकस्मात् कोई जीव किसी के निमित्त से मर जाए तो क्या उसे हिंसा का दोष लगेगा ?”

इस प्रश्न का उत्तर है—“नहीं। रक्षा करते हुए अगर प्राणहानि हुई है, और तुम्हारा विवेक पूर्ण रूप में जागृत रहा है, तो तुम हिंसा के फल के भागी नहीं होओगे। अलवत्ता अगर तुमने असावधानी की है, प्रमाद को आश्रय दिया है, या तुम्हारे चित्त में कषाय उत्पन्न हुआ है तो अवश्य तुम्हें हिंसा का भागी होना पड़ेगा।”

प्राणवध स्थूल क्रिया है और प्रमाद योग सूक्ष्म क्रिया है। प्राणवध द्रव्य हिंसा कहलाता है और प्रमाद योग भाव हिंसा। भाव हिंसा एकान्त हिंसा है, जब कि द्रव्य हिंसा एकान्त हिंसा नहीं। भाव हिंसा की मौजूदगी में होने वाली द्रव्य हिंसा ही हिंसा है।^२

जैसे चिकित्सक करुणाभाव से सावधानी के साथ रोगी का आपरेशन करता है, किन्तु रोगी किसी कारण मर जाता है, तो वह द्रव्यहिंसा चिकित्सक के हिंसा जनित पापबन्ध का कारण नहीं होगी। इसके विपरीत लोभ-लालच अथवा किसी अन्य कारण से चिकित्सक रोगी को विषमिश्रित औषध देता है और आयु लम्बी होने के कारण रोगी मृत्यु से बच जाता है तब भी चिकित्सक हिंसा के पाप का भागी हो जाता है।

इस प्रकार जैनधर्म हिंसा को क्रिया पर नहीं बरन् मुख्यतः भावना पर आश्रित मानता है। भावना ही हिंसा और अहिंसा की अचूक कसौटी है।

असत्य—असत् भाषण करना दूसरा दोष है। असत् का अर्थ है 'अयथार्थ'

१ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र ३।

२ प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा, तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० १३।

३. भगवती सूत्र, श० १, उ० १, सू० ४८।

और अप्रशस्त । जो वस्तु या घटना जैसी है उसे वैसी न कहकर अन्यथा कहना अयथार्थ असत्य है ।^१ जिसे साधारण जन भी असत्य मानते हैं, परन्तु जो वचन दूसरो को पीडा पहुंचान के लिए बोला जाता है, जिसके पीछे दुर्भावना काम कर रही होती है, वह भी असत्य होता है अतः उसे अप्रशस्त असत्य कहते हैं । किसी निर्धन को कगाल कहना, चक्षुहीन को चिढाने या चोट पहुंचाने के लिए अन्धा कहना, किसी दुर्बल को दुखी कहने के लिए मरियल आदि कहना, अथवा हिंसाजनक या हिंसोत्तेजक भाषा का प्रयोग करना, यह सब असत्य में परिगणित है, फिर भले ही वह तथ्य या यथार्थ ही क्यों न हो ।

अदत्तादान—स्वामी की इच्छा या आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना अपने अधिकार में करना अदत्तादान है ।^२ किसी की वस्तु मार्ग में गिर पडी है या कोई अपनी वस्तु कही रखकर भूल गया है, उसे हड़प जाना या दवा लेना भी अदत्तादान में ही सम्मिलित है ।

जब मनुष्य लालच-वृत्ति को स्वच्छन्द छोड़ देता है, तब अनधिकृत वस्तु पर भी अधिकार करने का प्रयत्न करता है । नीति-अनीति के विवेक को तिला-जलि दे देता है और जैसे-तैसे भी अपनी लोलुपता की पूर्ति करता है । इसी भावना से अदत्तादान-चोरी के पाप का प्रादुर्भाव होता है ।

मैथुन—स्त्री और पुरुष के कामोद्देगजनित पारस्परिक सम्बन्ध की लालसा एव क्रिया मैथुन कहलाती है ।^३ मैथुन को अब्रह्म कहा है और उसे अब्रह्म कह कर यह सूचित किया गया है कि काम-दोष आत्मा के सद्गुणों का नाश करने वाला है । यो तो प्रत्येक पाप आत्माको कलुषित करने वाला ही है, किन्तु मैथुन के पाप में एक बड़ी बात यह है कि कई बार उसकी परम्परा दीर्घ काल के लिए चल पडती है । इस पाप के चक्कर में पड कर व्यक्ति अन्यान्य पापों का प्राय शिकार बनता है । यह पाप आत्मा के सद्गुणों का घात करता है । शरीर को निःसत्त्व बनाता है । समाज की नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और अभ्युदय में विकट बाधाएं उपस्थित करता है । अतएव यह भयानक पाप है ।

परिग्रह—किसी भी परपदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, परिग्रह

१ प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार २ ।

२ प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार ३ ।

३ प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार ४ ।

कहलाता है। ममत्व, मूर्छा या लोलुपता ही वास्तव में परिग्रह हैं।^१ उन्नी से संसार के अधिकांश दुःख उत्पन्न होते हैं। भौतिक पदार्थों पर आसक्ति रखने से विवेक नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर और राग-द्वेष के बन्दी-भूत होकर अनेक दोषों का सेवन करता हुआ लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है।

यह पाच महान् दोष हैं, जिनसे संसार के समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है। इतिहास साक्षी है कि इन्हीं दोषों के कारण मनुष्य अपना और संसार का अहित करता आया है। मगर दोषों का शमन हो जाए तो शान्ति और स्थायी एव सच्चे सुख की प्राप्ति में विलम्ब न लगे। आत्मा को इन दोषों से मुक्त करना ही जैनधर्म की साधना का मुख्य लक्ष्य है। जब यह साधना अपनी पूर्णता पर पहुँच जाती है, तब आत्मा, परमात्मा पद का अधिकारी बन जाता है।

पात्रों की योग्यता एव क्षमता का विचार करके जैनधर्म में यह साधना दो भागों में बाँट दी गई है, जिसे हम पहले अगारधर्म (गृहस्थ-धर्म) और दूसरा अनगार (साधु-धर्म) के नाम से कह चुके हैं।^२

गृहस्थधर्म की पूर्व भूमिका

संघ का विभाजन—भगवान् महावीर ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभाविक ही था कि उसे स्थायी और व्यापक रूप देने के लिए वे सघ की भी स्थापना करते। क्योंकि संघ के बिना धर्म ठहर नहीं सकता।

जैन सघ चार श्रेणियों में विभक्त है।

१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका।

इनमें साधु और साध्वी का आचार लगभग एक-सा और श्रावक-श्राविका का आचार एक-सा है।

जैन सघ में श्रावक और श्राविका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक का आचार मुनि धर्म के लिए नींव के समान है। उसी के ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

धर्म संघ की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण बात थी और उसमें भी गृहस्थों को समुचित स्थान मिलना, श्रमण भगवान् की विशालता और उदारता का

१. दशर्वकालिक, अ० ६, गाथा २१।

२. ठाणांग सूत्र, स्था० २, उ० १।

परिचायक है। कुछ लोग समझते हैं कि जैनधर्म निवृत्तिमय धर्म, और त्यागियो-वैरागियो के ही काम की ही चीज है, किन्तु उनका यह भ्रम जैनो की संघ व्यवस्था का विचार करने से ही हट सकता है।

श्रावक पद का अधिकार—जैनधर्म में जैसे मुनियो के लिए आवश्यक आचार प्रणालिका निर्दिष्ट की गई है, और उस आचार का पालन करने वाला साधक ही मुनि कहलाता है, उसी प्रकार श्रावक होने के लिए भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक नहीं कहला सकता, बल्कि विशिष्ट व्रतो को अंगीकार करने वाला गृहस्थ ही श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सात दुर्व्यसनो का त्याग करना आवश्यक है—वे दुर्व्यसन ये हैं—

१ जुआ खेलना, २. मासाहार, ३ मदिरापान, ४ वेश्यागमन, ५ शिकार, ६ चोरी और ७. परस्त्रीगमन।

यह सातों ही कुव्यसन जीवन को अध पतन की ओर ले जाते हैं। इनमें से किसी भी एक व्यसन में फँसा हुआ अभाग्य मनुष्य, प्रायः सभी व्यसनो का शिकार बन जाता है।

इन सात कुव्यसनो में से नियमपूर्वक किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाला ही श्रावक बनने का पात्र होता है।

श्रावक बनने के लिए—इन सात दुर्व्यसनो के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहिए। जैन परिभाषा में उन्हें मार्गानुसारी के गुण कहते हैं। क्योंकि जिन मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणो का होना आवश्यक है। उनमें कुछ ये हैं—

नीतिपूर्वक धनोपार्जन करे, शिष्टाचार का प्रशंसक हो, गुणवान् पुरुषो का आदर करे, मधुरभाषी हो, लज्जाशील हो, शीलवान् हो, माता-पिता का भक्त एवं सेवक हो, धर्मविरुद्ध, देशविरुद्ध, एवं कुलविरुद्ध, कार्य न करने वाला, आय से अधिक व्यय न करनेवाला, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला, नियत समय पर परिमित सात्विक भोजन करने वाला, परस्पर विरोध—रहित धर्म अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग का सेवन करने वाला, अतिथि, दीन-हीन जनो एवं साधु-सन्तो का सत्कार करने वाला। गुणो का पक्षपाती, अपने आश्रित जनो का पालन-पोषण करनेवाला, आगा-पीछा मोचने वाला, सौम्य, परोपकार-परायण, काम-क्रोध आदि

आन्तरिक शत्रुओं को नष्ट करने में उद्यत, और इन्द्रियो पर काबू रखने वाला हो। इत्यादि गुणों से युक्त गृहस्थ ही श्रावक धर्म का अधिकारी होता है।

जैनशास्त्रों में प्रकारान्तर से श्रावक की २१ विशेषताओं (गुणों) का भी उल्लेख है। यथा—

१ श्रावक का किसी को कष्ट देने का स्वभाव नहीं होना चाहिए।

२ तेजस्वी और सशक्त स्वभाव वाला हो, अन्तर का सौम्यभाव उसके चेहरे पर प्रतिविम्बित हो।

३ शान्त, दान्त, क्षमाशील, मिलनसार, विश्वास-पात्र और शीतल चित्त हो।

४. अपने व्यवहार से लोकप्रिय हो।

५. क्रूरता से रहित हो।

६ लोकापवाद से डरे, इह-परलोक के विरुद्ध कार्य न करे।

७ गठ, धूर्त एवं अविवेकी न हो।

८ दक्ष हो—व्यवहार कुशल हो और एक नजर में ही आदमी को परख ले।

९ लज्जाशील हो।

१० दयावान हो।

११ मध्यस्थभावी हो—भली-बुरी बात सुनकर, या वस्तु को देखकर, राग-द्वेष न करे, आसक्तिशील न हो।

१२ सुदृष्टिमान्—अन्तःकरण में मलीनता न हो, आंखों से अमृत झरे, और सम्यग्दृष्टि हो।

१३ गुणानुरागी हो।

१४ न्याय युक्त पक्ष ग्रहण करे, अन्याय का साथ न दे।

१५ दीर्घदृष्टि हो—भविष्य का विचार करके व्यवहार करे।

१६ विशेषज्ञ हो—अर्थात् सत्-असत्, हित, अहित एवं गुण अवगुण की परीक्षा करने में कुशल हों।

१७ वृद्धानुगामी हो, अर्थात् अनुभवी व्यक्तियों के अनुभव का लाभ लेता हुआ प्रवृत्ति करे।

१८. विनयवान् हो।

१९ रग-रग में कृतज्ञता भरी हो।

२० “परोपकाराय सता विभूतयः” अर्थात् सत्पुरुषो का सर्वस्व परहित के लिए ही होता है, ऐसी उनकी जीवन नीति हो ।

२१ लब्धलक्ष्य हो, अर्थात् अपने जीवन के प्रशस्त लक्ष्य को प्राप्त करने वाला हो ।

जिस गृहस्थ के जीवन में उल्लिखित विशेषताएँ आ जाती हैं, उसका जीवन आदर्श गृहस्थ-जीवन हो जाता है । तभी वह श्रावक-धर्म को अगीकार करने और उसका समचित रूप से पालन करने में समर्थ होता है ।

गृहस्थधर्म

जैन शास्त्र का विधान है—“चारित्त धम्मो ।” अर्थात् “चारित्र ही धर्म है ।” चारित्र क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

“अमुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं”

अर्थात् “अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना, चारित्र कहलाता है । वस्तुतः सम्यक्-चारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है । सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है ।

चारित्र धर्म के नियम गृहस्थ वर्ग और त्यागी के लिए पृथक्-पृथक् बतलाये गए हैं । गृहस्थ-वर्ग के लिए बतलाए गए व्रतों का अर्थात् श्रावक धर्म का, यहाँ संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है ।

अणुव्रत

अणुव्रत का अर्थ है छोटा व्रत—

१ अहिंसाणुव्रत—पहला व्रत स्थूल प्राणातिपात विरमण अर्थात् जीवों की हिंसा से विरत होना है । संसार में दो प्रकार के जीव हैं, स्थावर और त्रस । जो जीव अपनी इच्छा अनुसार स्थान बदलने में असमर्थ हैं, वे स्थावर कहलाते हैं । पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, यह पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं । इन जीवों की सिर्फं स्पर्शेन्द्रिय ही होती है । अतएव इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं ।

सुख-दुःख के प्रसंग पर जो जीव अपनी इच्छा के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह आते हैं, जो चलते-फिरते और बोलते हैं, वे त्रस जीव हैं । इन त्रस जीवों में दो इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई

पाच इन्द्रियो वाले होते हैं । नमार के नमस्त जीव त्रस और रयावर विभागों में सम्मिलित हो जाते हैं ।

मुनि दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं । परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते, अतएव उनके लिए स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है । निरपराध त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है ।

जैनशास्त्रों में हिंसा चार प्रकार की बतलाई गई है ।^१

१ आरम्भी हिंसा, २ उद्योगी हिंसा, ३ विरोधी हिंसा और ४ संकल्पी हिंसा ।

१. जीवन निर्वाह के लिए, आवश्यक भोजन-पान के लिए, और परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है ।

२. गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिए, कृषि, गोपालन, व्यापार आदि उद्योग करता है और उन उद्योगों में हिंसा की भावना न होने पर भी जो हिंसा होती है, वह उद्यमी या उद्योगी हिंसा कहलाती है ।

३. अपने प्राणों की रक्षा के लिए, कुटुम्ब-परिवार की रक्षा के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है ।

४. किसी निरपराध प्राणी की, जान-बूझ कर, मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है ।

चार प्रकार की इस हिंसा में गृहस्थ पहले व्रत में संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा में यथाशक्ति त्याग करके अहिंसा व्रत का पालन करता है ।

अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए पाच दोषों से बचते रहना चाहिए ।^२

१. किसी जीव को मारना, पीटना, त्रास देना,

२. किसी का अग्रभग करना, अपग बनाना, विरूप करना ।

३. किसी को वन्धन में डालना, यथा-तोते के पीजरे में बन्द करना, कुत्तो

को रस्सी से बांधे रखना, माण को पिटारे में बन्द कर देना, ऐसा करने से उन प्राणियों की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हें व्यथा पहुँचती है।

४ घोड़े, बैल, खच्चर, गधे आदि जानवरों पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरों से अधिक काम लेना।

५ अपने आश्रित प्राणियों को नमय पर भोजन-पानी न देना तथा रात्रि भोजन आदि नमस्त दोषों का त्याग अहिंसाणुव्रत की भावना में आवश्यक है।

२ सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना और नूदम असत्य के प्रति सावधान रहना द्वितीय व्रत है।

यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिम असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोकनिन्दनीय और राजदण्डनीय है, वह असत्य स्थूल असत्य कहलाता है। श्रावक ऐसे स्थूल असत्य-भाषण का त्याग करता है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची-झूठी कह कर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मूषावाद में सम्मिलित हैं। इस व्रत का भलीभाँति पालन करने के लिए इन पाँचों बातों से बचना चाहिए।^१ जैसे कि —

१. दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना।
२. किसी की गुप्त बात प्रकट करना।
३. पत्नी आदि के साथ विश्वास घात करना।
४. दूसरे को गलत मलाह देना।
५. जालसाजी करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना।

३. अचौर्याणुव्रत—मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत कहते हैं। चोरी भी दो प्रकार की है स्थूल चोरी, और सूक्ष्म चोरी। जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है, और जो चोरी लोक में चोरी के नाम से विख्यात है, वह स्थूल चोरी है। रास्ते में चलते-चलते तिनका या ककर उठा लेना या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त किए बिना ग्रहण कर लेना सूक्ष्म

चोरी है। गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण चोरी का त्याग करना कठिन है, तथापि स्थूल चोरी का त्याग करना ही चाहिए। सैध लगाना, जेब काटना, डाका डालना, सूद के बहाने किसी को लूट लेना, आदि स्थूल चोरी के अन्तर्गत है।

अचौर्याणुव्रती को इन पाच बातों से वचना चाहिए^१—

१. चोरी का माल खरीदना।
२. चोर को चोरी करने में सहायता देना।
३. राज्य-राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करना, जैसे उचित 'कर' न देना आदि।
४. न्यूनाधिक नाप-तोल करना।
५. मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत—कामभोग एक प्रकार का मानसिक रोग है। उसका प्रतिकार भोग से नहीं हो सकता। यह समझ कर मानसिक बल शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिए संभोग से सर्वथा वचना पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना नहीं कर सकता, उसे कम-से-कम पर स्त्रीगमन का त्याग तो करना ही चाहिए। इस प्रकार परस्त्रीत्याग और स्वस्त्री सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

संभोग की प्रतिक्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों का वध होता है। इससे राग, द्वेष और मोह की वृद्धि होती है। वह समस्त पापों का मूल है। अतएव जो गृहस्थ उसे अपनी पत्नी तक सीमित कर लेता है और पत्नी में भी अत्यासक्ति नहीं रखता, वह अन्त में काम वासना पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रती को निम्नलिखित पाच बातों से वचना चाहिए^२—

१. किसी र खेल आदि के साथ कुसम्बन्ध स्थापित करना।
२. कुमारी या वेश्या आदि के साथ गमन करना।
३. अप्राकृतिक रूप से मैथुन सेवन करना।
४. अपना दूसरा विवाह करना तथा दूसरों के विवाह सम्बन्ध स्थापित करते फिरना।
५. कामभोग की तीव्र अभिलाषा रखना।
५. परिग्रह परिमाण अणुव्रत—परिग्रह ससार का बड़े से बड़ा पाप है।

आज ससार के समक्ष जो जटिल ममस्याएँ उपस्थित हैं, सर्वव्यापी वर्ग सघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह-मूर्छा की देन है। जब तक मनुष्य के जीवन में अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नहीं कर सकता। अतएव परिग्रह की सीमा कर लेना आवश्यक है।

यही परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहलाता है। इस अणुव्रत का अगर व्यापक रूप से पालन किया जाय तो भूमंडल को स्वर्गधाम बनाने में पल भर देर न लगे। सर्वत्र सुख और शान्ति का सा आराज्य स्थापित हो जाय। इस अणुव्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच दोषों से वचना आवश्यक है—

१. मकानों, दुकानों तथा खेतों की मर्यादा को किसी भी वहाने से बढ़ाना।
२. डमी प्रहार सोने-चादी आदि के परिमाण को भंग करना।
३. द्विपद (नौकर) तथा चतुष्पद (गाय, घोडा आदि) के परिमाण का उल्लंघन करना।
४. मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भंग करना।
५. दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्त्र, पात्र, आसन आदि वस्तुओं के लिए परिमाण को उल्लंघन करना।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत—पूर्वोक्त पांच अणुव्रत गृहस्थ के मूल व्रत हैं। उनका भली भाँति आचरण करने के लिए कुछ और व्रतों की भी आवश्यकता होती है। जिनसे मूल व्रतों की संपुष्टि, और वृद्धि और रक्षा होती है। उन्हें उत्तर व्रत कहते हैं, उन्हें भी दो भागों में विभक्त किया गया है। गुणव्रत और शिक्षा व्रत। गुणव्रत तीन, और शिक्षा व्रत चार हैं।^१ यह सब मिलकर श्रावक के द्वारह व्रत कहलाते हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ दिग्गत^२—मनुष्य की अभिलाषा आकाश की भाँति असीम और अग्नि की तरह वह समग्र भूमण्डल पर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने का मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, वरन् उस स्वप्न को साकार करने के लिए विजय-अभिमान भी करती है। अर्थ लोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है। विदेशों में व्यापार-संस्थान स्थापित करता है और इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मनुष्य की इस निरकुश तृष्णा को नियन्त्रित

करने के लिए दिग्ब्रत का विधान किया गया है। इस व्रत का धारक श्रावक समस्त दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करता है, और उसमें बाहर सब प्रकार के व्यापारों का त्याग कर देता है।

२. उपभोग-परिभोग परिमाण—^१एक बार भोगने योग्य आहार आदि उपभोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनः पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्रपात्र, आदि को परिभोग कहते हैं। इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा वाव लेना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागों में विभक्त किया गया है। भोजन पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है। व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने से पापपूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है।

३. अनर्थ दण्ड त्याग—विना प्रयोजन हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है। विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपाजन करती है—

- | | | |
|---------------------|---|--|
| १. अप्रध्यान | - | दूसरों का बुरा विचारना। |
| २. प्रमादाचरित जाति | - | कुल आदि का मद करना तथा विकथा, निन्दा आदि करना। |
| ३. हिंसाप्रदान | - | हिंसा के साधन-तलवार, बन्दूक, बम आदि का निर्माण करके दूसरों को देना, सहारक शस्त्रों का आविष्कार करना। |
| ४. पापोपदेश | - | पाप-जनक कार्यों का उपदेश देना। |

इस व्रत को अंगीकार करने वाला साधक कामवासना वर्द्धक वार्तालाप नहीं करता, कामोत्तेजक कुचेष्टाएँ नहीं करता। असभ्य-फूहड़ वचनों का प्रयोग नहीं करता, हिंसाजनक शस्त्रों के आविष्कार, निर्माण या विक्रय में भाग नहीं लेता, और भोगोपभोग के योग्य पदार्थों में अधिक आसक्त नहीं होता।

४. सामाधिकव्रत—^२मन की राग-द्वेषमय परिणति विषमभाव है। इस विषमभाव को दूर करके जगत् के समस्त पदार्थों में तटस्थभाव समभाव स्थापित करना ही जैन साधना का उद्देश्य है। क्योंकि समभाव के अभाव में मन्त्री ज्ञान्ति का लाभ नहीं हो सकता। इसी कारण आर्हती साधना चरम उद्देश्य समता को केन्द्र मानकर मुक्ति की ओर गया है।

नमभाव को प्राप्त करने, विकसित करने और स्थायी बनाने के लिए जिस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है, वह सामायिक व्रत है। इस व्रत की आगमना का काल ४८ मिनट निर्दिष्ट किया गया है। इस काल में गृहस्थ श्रावक को समस्त पापमय व्यापारों का त्याग करके आत्मचिन्तन करना चाहिए। सामायिक के समय में प्राप्त हुई समभाव को प्रेरणा को जीवनव्यापी बनाने का यत्न करना चाहिए।

५. देशावकाशिकव्रत—^१ दिग्गत में जीवन पर्यन्त के लिए किये गए दिग्गात्रों के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना, और उस परिमाण से बाहर समस्त पाप कार्यों का त्याग करना देशावकाशिक व्रत है।

६. पौषधव्रत—^२ जिससे आत्मिक गुणों या धर्म भाव का पोषण होता है, वह पौषधव्रत कहलाता है। इस व्रत का आचरण प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथियों में किया जाता है। एक रात-दिन उपवास करना, अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्त्वचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय एवं आत्मरमण करना और सब प्रकार की सासारिक उपाधियों से छुटकारा लेकर साधु सरीखी वृत्ति धारण कर लेना, इस व्रत की चर्या है।

७. अतिथिसंविभाग—^३ जिनके आने का समय नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण पहले सूचना दिए बिना आते हैं। उन्हें सयमोपयोगी आहार आदि का दान करना अतिथि-संविभाग व्रत है।

मग्नहपरायण मनोवृत्ति को कृश करने, तथा त्यागभावना को जागृत एवं विकसित करने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है।

अतिथि शब्द से मुख्यतः साधु का अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु श्रावक का हृदय इतना उदार, सद्य और दानशील होता है कि साधु के सिवाय अन्य दीन-दुखी भी उसके द्वार से निराश होकर नहीं लौटता।

इन बारह व्रतों का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, साजाजिक न्याय तथा क्षम पर सुख की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गृहस्थ यदि बारह व्रतों की

१ उपासक दशांग अ० १। २ उपासक दशांग अ० १।

३ उपासक दशांग अ० १।

मर्यादाओं का पालन करे तो संसार स्वर्ग बन सकता है, और प्रत्येक प्राणी के साथ बन्धुभाव स्थापित होने से अपूर्व शान्ति या चायुमण्डल निर्मित हो सकता है।

श्रावक के तीन प्रकार

व्रतों का अणु-आशिक-रूप से पालन करना अणुव्रत कहलाता है। किन्तु प्रत्येक गृहस्थ को अणुरूप साधना भी समान कोटि की नहीं हो सकती। आश्वि अपनी क्षमता के अनुसार ही गृहस्थ इन व्रतों का पालन कर माता है, अतएव उसकी साधना में अनेक कोटियां हो जाना स्वाभाविक है। उन कोटि भेद के आधार पर श्रावक तीन प्रकार के होते हैं—

१. पाक्षिक, २. नैष्ठिक ३. साधक।

जो एक देश से (अंशतः) हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म अंगीकार करता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जब वह निर्दोष निरतिचार-रूप से व्रतों का पालन करने लगता है, तब नैष्ठिक कहलाता है। वही श्रावक जब पूर्ण रूप से देशचारित्र्य का पालन करता है और आत्मा की स्वरूपपरिस्थिति में लीन हो जाता है, तब साधक श्रावक कहलाता है।

जीवन-नीति

श्रावक और साधु दोनों ही मुमुक्षु होते हैं। दोनों आत्मायुद्धि के पथ के पथिक होते हैं। दोनों का उद्देश्य मुक्तिलाभ करना है। दोनों सयम की साधना में निरत रहते हैं और पाप से बचने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी दोनों की परिस्थितियों में अन्तर है। साधु सर्वथा अपरिग्रही और अनारभी समस्त पापकृत्यों के त्यागी होते हैं, किन्तु श्रावक गृहस्थ-अवस्था में रहने के कारण ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि उसका परिग्रह और आरम्भ अमर्यादित नहीं होता।

जैनशास्त्रों में महापरिग्रह और उसके लिए किया जाने वाला महारभ नरक गति का कारण बतलाया गया है। अतएव श्रावक की जीवन नीति ऐसी सरल और सादी होनी चाहिए कि वह अल्पारभी और अल्पपरिग्रही रहकर ही अपना और अपने परिवार का निर्वाह कर ले। श्रावक का दर्जा पाने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

श्रावक परिग्रह की एक मर्यादा बाध लेता है, जिससे वह तृष्णा पर अकुश लगा सके। उस मर्यादा को निभाने के लिए वह भोगोपभोग की वस्तुओं

की मर्यादा कर लेता है, और निरर्थक सग्रह का भी त्याग कर देता है। इस प्रकार श्रावक का जीवन अत्यन्त सादा बन जाता है। आजीविका के निमित्त उसे कोई बड़ा पाप नहीं करना पड़ता।

जिस आजीविका या व्यवसाय से विशेष हिंसा होती है, जिससे व्यक्ति में अनैतिकता बढती है, और समाज अथवा राष्ट्र को क्षति पहुँचती है, श्रावक उससे दूर रहता है। जैन-परिभाषा में ऐसा व्यवसाय कर्मादान कहलाता है। श्रावक श्रावक कर्मादान का त्यागी होता है।

वृक्षों को काट-काट कर कोयला बनाना, ठेका लेकर जंगल को उजाड़ना, हाथी दात आदि का व्यापार करना, मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का विक्रय करना। प्राणघातक विष बेचना, मनुष्यों में बेकारी बढाने वाले यन्त्रों से धधा करना, और दुराचारिणी स्त्रियों से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना, आदि निन्द्य कर्मों से श्रावक दूर रहता है।

उपामक दशांग सूत्र में आदर्श श्रावकों के चरित्र बतलाये गये हैं। उन श्रावकों के पास जितनी भूमि, गाये और पूजा मौजूद थी, उतनी ही उन्होंने परिग्रह की मर्यादा की थी। आनन्द श्रावक के यहाँ लाखों गाये थी। पाच सौ हल्लों से खेती होती थी। वह बड़ा व्यापार करता था फिर भी वह मर्यादा से ज्यादा परिग्रह नहीं होने देता था। इससे जान पड़ता है कि वह वाणिज्य कृषि और गोपालन करके, अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करता हुआ भी उससे कोई मुनाफा नहीं उठाता था, या अपने मुनाफे का सर्वसाधारण में वितरण कर देता था।

कहा जा सकता है कि जिसे मुनाफा नहीं कमाना, उसे व्यापार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि व्यापार का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थसाधना नहीं, वरन् समाज सेवा करना है। प्रजा के अभावों की पूर्ति के लिए व्यापार होना चाहिए। सब जगह सभी वस्तुएं सुलभ नहीं होती। कोई वस्तु कहीं इतने अधिक परिमाण में पैदा होती है कि अन्यत्र न भेजी जाय, तो वृथा पड़ी-पड़ी मडली रहे। दूसरी जगह उसके अभाव में लोग कष्ट पाते हैं। इस परिस्थिति में व्यापारी सामने आता है, और वह जरूरत वाली जगह पर उस चीज को ले जाकर प्रजा के अभाव को दूर करता है।

व्यापारी न हो तो प्रजा अभावग्रस्त होकर परेशान हो जाय, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् आयोजन नहीं कर सकता।

व्यापारी की यह महत्त्वपूर्ण सेवा है। यह सेवा करता हुआ व्यापारी अपने निर्वाह के लिए कुछ अश्वत्था लेता है। जिसे मुनाफा कहते हैं। जिस व्यापारी के जीवन निर्वाह का दूसरा स्रोत मौजूद है, उसे मुनाफा लेने की आवश्यकता नहीं। फिर भी वह प्रजा के अभावों को दूर करने के लिए सेवा के रूप में व्यवसाय करता है।

जैनशास्त्र इस आदर्श व्यापार नीति की ओर संकेत करते हैं। श्रावक की जीवन-नीति की इससे अच्छी कल्पना आ सकती है।

जैन श्रावक सन्तोष के साथ अपना जीवन निर्वाह करता है। प्रतिदिन वीतराग देव की पूजा (भाव-भक्ति) करना, गुरु की उपासना करना, स्वाध्याय करना, समय का सेवन करना, यथाशक्ति तपस्या करना और यथोचित दान देना गृहस्थ का दैनिक कर्तव्य है।

चारित्र का मूलाधार अहिंसा

गृहस्थ के व्रतों का जो शब्द-चित्र खींचा गया है, उसे पढ़ने से एक बात सहज ही ध्यान में आ सकती है, वह यह है कि वहाँ ससार को छोड़कर भागने की बात नहीं है। ससार को मिथ्या मानने या अवास्तविक कहने की भ्रमपूर्ण बात भी नहीं है। जगत् के प्राणियों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का प्रश्न भी नहीं है। इस समग्र साधना का प्रधान-आधार है--“सर्वभूतात्मभूतता” अर्थात् प्राणीमात्र को आत्मीय भाव से अगीकार करना। दूसरे शब्दों में यही अहिंसा है। अहिंसा की भूमिका पर ही व्रतों की विशाल अट्टालिका का निर्माण हुआ है।

अहिंसा से ही सर्वसमासंस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। मानवता के उत्थान और आत्मविस्तार का माध्यम अहिंसा ही है। अहिंसा से ही सार्वभौम शान्ति का सर्जन होगा। यही कारण है कि जैनधर्म में अहिंसा को ही धर्म एव सदाचार की कसौटी माना गया है।

अहिंसा जैन संस्कृति की आत्मा है। अहिंसा से ही आत्मा की पुष्टि होती है। अहिंसा आध्यात्मिक जीवन की नींव है, जीवन का मूल मन्त्र है। अहिंसा देवी शक्ति है, अहिंसा परम धर्म, और परम ब्रह्म है। अहिंसा वीरता की सच्ची निशानी है।

मानव और दानव में अहिंसा और हिंसा का ही अन्तर है। अहिंसा ही सुख-शान्ति की जननी, और जगत् की रक्षा करने वाली अनीतिक शक्ति है।

माडे वारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक कठोरतम तपश्चर्या करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ समदर्शी होकर जो मौनभग किया तो उनके मुख से यही घोष हुआ—“मा हण, मा हण ।” किसी प्राणी को मत मारो, मत मारो । किसी का छेदन न करो, न करो । किसी को परिताप न पहुँचाओ । मारोगे तो मरना पडेगा । छेदोगे तो छिदना पडेगा, भेदोगे तो भिदना पडेगा । परिताप पहुँचाओगे तो परितप्त होना पडेगा ।”

भगवान् ने कहा—जो अरिहन्त अतीत-काल में हो चुके हैं, वर्तमान में विद्यमान हैं, और भविष्य में होंगे उन सब का एक ही आदेश और एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को किसी भी प्रकार से क्लेश न पहुँचाया जाय । यही धर्म शुद्ध, नित्य और साश्वत है । ज्ञानी-जनो ने पूरी तरह अनुभव करके और ससार के स्वरूप का विचार करके इस धर्म की प्ररूपणा की है ।

छोटे-मोटे सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय, और सुख प्रिय है । सभी को जीवन इष्ट और मरण अनिष्ट है ।

तुम अपने सुख के लिए दूसरो को सताओगे, तो दूसरे भी अपने सुख के लिए तुम्हे सताएंगे । इस प्रकार सभी जीव हिंसा के द्वारा सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करगे, तो परिणाम में दुःख ही आगे आएगा । कोई सुखी न हो सकेगा । अतएव जनधर्म ने दृढतापूर्वक यह विधान किया है कि भगवती अहिंसा की वरदायिनी छत्रछाया में ही वास्तविक सुख की उपलब्धि हो सकती है ।

मुनि धर्म

वय और योग्यता—विश्व के समस्त धर्म त्याग को प्रधानता देते हैं । परन्तु जैनधर्म ने त्याग की जो मर्यादाएँ स्थापित की हैं, वे असाधारण हैं । वैदिक धर्म के समान जैनधर्म ने त्यागमय जीवन अगीकार करने लिए वय-विशेष का कोई निर्धारण नहीं किया है । वह नहीं कहता कि जीवन के तीन चरण बीतने के बाद अन्तिम चौथा चरण सन्यास के लिए है । जीवन क्षण-भंगुर है और कोई नहीं जानता कि कौन जीवन के चारों चरण समाप्त कर सकेगा और कौन नहीं ? मृत्यु मनुष्य के मस्तक पर सदैव मडराती रहती है और किसी भी क्षण जीवन का अन्त आ सकता है । यही कारण है कि जैन-शास्त्र आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते ।

वय पर जोर न देने पर भी जैनशास्त्रों में त्यागमय जीवन अगीकार

करने वाले व्यक्ति की योग्यता अवश्य निर्धारित कर दी गई है। जिसे गृभ तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग को रोग और इन्द्रियविषयो को विष समझ चुका है, अतएव जिसके मानस-सर मे वैराग्य की ऊर्मिया लहराने लगी है, वही त्यागी बनने के योग्य है।

पूर्ण विरक्त होकर, शरीर-सम्बन्धी ममत्व का भी परित्याग करके जो आत्मा-आराधना में ही मलग्न रहना चाहता है, वह मुनि धर्म अंगीकार करता है।

समाज का रक्षक, राष्ट्र का सैनिक और परिवार का पोषक बन कर ही मनुष्य पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। उसे इन कर्तव्यों से भी पार होकर जीवन के अन्तिम मार्ग को अकेले होकर भी पार करना पड़ता है। तभी आत्मा को सर्वोच्च सिद्धि का लाभ होता है। चरम साधना के वीहड़ पथ पर एकाकी चल पडने वाला साधक ही मुनि, श्रमण साधु, भिक्षु या त्यागी कहलाता है।

श्रमणत्व की उच्च भूमिका स्पर्श करने के लिए गृह-परिवार, धन सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, मगर यही पर्याप्त नहीं है। सच्चा श्रमण वही है^१ जो जीवन मे गहरी जड जमाये हुए आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा जिसके लिए मान-अपमान, निन्दा-स्तुति और जीवन-मरण एकाकार हो जाते हैं, वह तिरस्कार के गरल को अमृत बना कर पी जाता है। मगर कटुक वचन बोलकर किसी का तिरस्कार नहीं करता। वह अनीह और अनासक्त रह कर भी सम्पूर्ण पृथ्वी की अपना मानता है और ससार के जीवो को मैत्री और करुणा प्रदान करता है। वह चलती फिरती सस्था बनकर जगत् मे आध्यात्मिकता की उज्ज्वल ज्योति प्रज्वलित रखता है।

श्रमण का अहम् इतना विराट् रूप धारण कर लेता है कि किसी भी कृत्रिम परिधि में वह समा नहीं सकता। इसलिए वह राष्ट्रीय अहम् का समर्थन नहीं करता। उसके आगे यह सब मनोवृत्तियां सकीर्ण है। अवास्तविक है। अखण्ड जीवन के प्रति उसकी आस्था है, विभिन्न रंग-रूपो मे बटी टुकडियो मे नहीं।

साधु ससार की भलाई मे कभी विमुख नहीं होता, परन्तु उसका प्रति-फल पाने की किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखता। वह अपनी पीडा को वरदान मानकर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, मगर परपीडा उसके लिए

असह्य होता है। यह सत्य है कि उसकी साधना का केन्द्रबिन्दु आत्मोत्थान ही है, किन्तु लोककल्याण उसके आत्मोत्थान का साधन होती है। आत्मकल्याण के उद्देश्य से लोक कल्याण करने करने वाले के चित्त में अहंकार नहीं उत्पन्न होता, और इन प्रकार साधु अपनी साधना को कलुषित होने से बचा लेता है, क्योंकि उसके मन में यह भाव बराबर बना रहता है कि मैं अपनी भलाई के लिए दूसरो की भलाई कर रहा हूँ। जैन साधु वह नौका है, जो स्वयं तैरती है और दूसरो को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते हैं—साधुओ ! श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए लाघव—कम-से-कम साधनों से निर्वाह करना, निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूच्छा-अनासक्ति, आगृद्धि, अप्रतिबद्धता, अक्रोधता, अमानता, निष्कपटता और निर्लोभता ही प्रशस्त है।

इस प्रकार की साधना के द्वारा साधु अपने जन्म-मरण का अन्त करता है, और पूर्ण सिद्धि लाभ कर परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।

यों तो जैनशास्त्रों में साधु के आचार-विचार की प्ररूपणा बहुत विस्तार से की गई है। उसका संक्षिप्त वर्णन करने पर भी कई पुस्तकें बन सकती हैं। तथापि यहाँ अतिसंक्षेप में उसका दिग्दर्शन कराना है।

पांच महाव्रत

पांच महाव्रत साधुत्व की अनिवार्य शर्त हैं। इनका भलीभाँति पालन किए बिना कोई साधु नहीं कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार हैं—

१ अहिंसामहाव्रत—जीवनपर्यन्त त्रस और स्थावर सभी जीवों की मन, वचन, काय से हिंसा न करना, दूसरो से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना, अहिंसा महाव्रत है।

साधु का मन अमृत कुण्ड, वाणी अमृत का प्रवाह, और काया अमृत की देह के समान होती है। प्राणी मात्र पर वह अखंड करुणा की वृष्टि करता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है। अग्निकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिए अग्नि का उपयोग नहीं करता। पखा आदि हिलाकर वायु की उदीरणा नहीं करता। कन्द, मूल, फल आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का स्पर्श तक नहीं करता। पृथ्वी काय के जीवों की रक्षा के लिए जमीन खोदने आदि की क्रियाएँ नहीं करता। महाव्रत-धारी स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवों की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है।

२. सत्यमहाव्रत—मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य का आचरण करना और सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना, सत्य महाव्रत है ।

आत्मसाधक पुरुष सत्य को भगवान् मानता है । वह मन, वचन या काया से कदापि असत्य का सेवन नहीं करता । उसे मौन रहना प्रियतर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है । वह विना सोचे-विचारे नहीं बोलता । हिंसा को उत्तेजना देने वाला वचन नहीं निकालता । हसी-मजाक आदि बातों से, जिनके कारण असत्य-भाषण की सभावना रहती है, उससे दूर रहता है ।

३. अचौर्य महाव्रत—मुनि संसार की कोई भी वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा लिए विना ग्रहण नहीं करते, चाहे वह गिण्य आदि हो चाहे निर्जीव घास आदि हो । दात साफ करने के लिए तिनका जैसी तुच्छ चीज भी आज्ञा लिए विना नहीं लेते ।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—साधक कामवृत्ति और वासना का नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है ।

इस दुर्घर महाव्रत का पालन करने के लिए अनेक नियमों का कठोरता के साथ पालन करना आवश्यक होता है । उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- (क) जिस मकान में स्त्री का निवास हो, उसमें न रहना ।^१
- (ख) स्त्री के हाव-भाव, विलास आदि का वर्णन करना ।
- (ग) स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना ।
- (घ) स्त्री के अंगोपांगों को स्थिर दृष्टि से न देखना ।
- (ङ) स्त्री-पुरुष के कामुकतापूर्ण शब्द न सुनना ।
- (च) अपने पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है ।
- (छ) सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना ।
- (ज) मर्यादा से अधिक आहार न करना । मुर्गी के अंडे के बराबर

१ जैसे साधक पुरुष के लिए स्त्री का सम्पर्क वर्ज्य है, उसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष का सम्पर्क भी वर्जनीय है ।

अधिक मे अधिक वस्तीम कौर भोजन करना साधु के आहार की मर्यादा है।

(इ) स्नान, मंजन, श्रृंगार आदि करके आकर्षक रूप न बनाना।

५. अपरिग्रह महाव्रत—साधु परिग्रहमात्र का त्यागी होता है, फिर मन्ते ही वह घर हो, धन-धान्य हो, या द्विपद-चतुष्पद हो या कुछ अन्य हो। वह मदा के लिए मन, वचन, काय से समस्त परिग्रह को छोड़ देता है। पूर्ण असग अनासक्त, अपरिग्रह और अममत्वी होकर विचरण करता है। साधुता का पालन करने के लिए उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उनके प्रति भी उसे ममत्व नहीं होता।

यद्यपि मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थों के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थों का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

पांच समिति

पाप से बचने के लिए मन की प्रशस्त एकाग्रता, समिति कहलाती है। महाव्रतों की रक्षा के लिए पांच प्रकार की समितियाँ साधु धर्म का आवश्यक अंग हैं। वह इस प्रकार हैं—

१. इर्यासमिति — जीवों की रक्षा के लिए, सावधानी के साथ, चार हाथ आगे की भूमि देखते चलना।
२. भाषा-समिति — हित, मित, मधुर और सत्य भाषा बोलना।
३. एषणासमिति — निर्दोष एवं शुद्ध आहार ग्रहण करना।
४. आदाननिक्षेपणसमिति — किसी भी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना, जिससे किसी जीव-जन्तु का घात न हो जाय।
५. परिष्ठापनिका-समिति — मल-मत्र आदि को ऐसे स्थान पर विमर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और किमी को घृणा या कष्ट भी न हो।

तीन गुप्ति

इन्द्रियो का और मन का गोपन करना, अर्थात् उन्हें असत्य प्रवृत्ति से हटाकर आत्माभिमुख कर लेना, गुप्ति के तीन भेद इस प्रकार हैं—

१. मनोगुप्ति - मन को अप्रशस्त, अशुभ वा कुत्सित मंकल्पो से हटाना ।
२. वचनगुप्ति - असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक अथवा अहितकर भाषा के प्रयोग को रोकना ।
३. कायगुप्ति - शरीर को असत् व्यापारो से निवृत्त करके शुभ व्यापार में लगाना, उठने बैठने, सीने, जागने आदि गारीगिक क्रियाओ मे यत्ना—सावधानी रखना ।

अनाचीर्ण

साधु की साधना का व्यवस्थित रूप से निर्वाह हो, इस प्रयोजन से जैनगास्त्रों मे वाचन अनाचीर्णों का उल्लेख कर दिया गया है। अनाचीर्ण वह कृत्य है जिनका महर्षि साधको ने आचरण नहीं किया है। अतएव जो अनाचारणीय है, इनमे साधु की लगभग सारी त्याज्य बाह्य चर्या का समावेश हो जाता है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. आदेशिक - अपने निमित्त बनाये हुए भोजन, पानी, मकान या किसी भी अन्य पदार्थ को ग्रहण करना ।
२. नित्यापण्ड - हमेगा एक ही घर से आहार लेना, भ्रामरी-वृत्ति का आश्रय न लेना ।
३. क्रीतकृत - साधु के लिए खरीदी हुई वस्तु ले लेना ।
४. अम्याहृत - उपाश्रय मे या जहा साधु ठहरा हो, वहां श्रावक आहार आदि लाकर दे और उसे ग्रहण कर लेना ।
५. त्रिभक्त - रात्रि मे भोजन करना ।
६. स्नान - नहाना ।
७. गंध - इत्र, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ काम मे लाना ।
८. माल्य - माला पहनना ।
९. वीजन - पखे, पुट्ठे या वस्त्र आदि से हवा करना ।
१०. मन्निवि - दूसरे दिन के लिए भोजन का मग्रह कर रखना ।
११. गृहिपात्र - गृहस्थ के पात्र मे आहार करना ।
१२. राज पिण्ड - राजा के लिए बना पौष्टिक आहार लेना ।
१३. किर्मच्छक दान- दानशाला आदि में जाकर सदावर्त लेना, भिखारियो को दी जाने वाली भिक्षा मे से हिस्सा बटा लेना ।

१४. संवाहन - शरीर को आनन्द देने वाला तैलमर्दन करना ।
१५. दन्तधावन - मजन आदि का प्रयोग करके दातो को चमकदार बनाना ।
१६. सप्रश्न - गृहस्थो से उनकी निजी पारिवारिक बातें पूछना ।
१७. देहप्रलोकन - काच आदि में मुह देखना ।
१८. अष्टापद - जुग्रा खेलना ।
१९. नालिक - चौपड़ आदि खेलना ।
२०. छत्रधारण - सिर पर छतरी आदि ओढना ।
२१. चिकित्सा - रोग न होने पर भी बलवृद्धि के लिए औषध सेवन करना । चिकित्सा करवाना ।
२२. उपानह - जूते, खडाऊ, मौजे आदि पहनना ।
२३. ज्योतिरारभ - दीपक जलाना, चूल्हा जलाना अथवा किसी भी प्रकार से अग्नि का व्यवहार करना ।
२४. शय्यातरपिण्ड - जिसकी आज्ञा लेकर मकान में ठहरा हो, उसके घर से आहार लेना ।
२५. आसन्दी - पलग, खाट आदि का उपयोग करना ।
२६. गृहान्तरनिषद्या - रोग, तपश्चर्या जनित दुर्बलता एव वृद्धावस्था आदि विशेष कारण के बिना गृहस्थ के घर में बैठना ।
२७. गात्रमर्दन - पीठी आदि लगाना ।
२८. गृहिवैयावृत्य - गृहस्थ से पैर दबवाने आदि की सेवा लेना या उसकी सेवा करना ।
२९. जात्याजीविका - सजातीय या सगोत्री बनकर आहार आदि प्राप्त करना ।
३०. तप्तानिवृत्ति - पूरी तरह उचित न होने पर भी, जल आदि ले लेना ।
३१. आतुरस्मरण - कष्ट आने पर अपने कुटुम्बी जनो का स्मरण । करना, पत्नी-पुत्र आदि को याद करना ।
३२. मूली खाना -
३३. अदरख खाना -
३४. इक्षुखड - गडेरिया लेना ।
३५. कन्दो का उपभोग करना ।

३६. जडी-बूटी आदि काम में लाना ।

३७. सचित्त फल खाना ।

३८. बीजों का भक्षण करना ।

३९-४५ सौचल नमक, सैधा नमक, सामान्य नमक, रोम-देशीय नमक, समुद्री नमक, पाखुखार नमक काम में लेना ।

४६. धूपन — शरीर या वस्त्र आदि को धूप देना ।

४७. वमन — निष्कारण मुह में उंगली डाल कर या औषध लेकर वमन करना ।

४८-४९. वस्तीकर्म — गुदामार्ग से कोई वस्तु पेट में डालकर दस्त करना तथा जुलाब लेना ।

५०. अजन — काजल या सुरमा लगाना ।

५१. दन्तवर्ण — दांत रगना ।

५२. — शारीरिक बलवृद्धि के लिए कुश्ती आदि व्यायाम करना ।

जैन साधु के लिए इन अनाचीर्णों का त्याग करना आवश्यक है ।

बारह भावनाएँ

मनुष्य के बाह्य व्यवहार उसके मनोभावों के मूर्तरूप होते हैं । अतएव साधना को सजीव बनाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है । मन को साधने तथा श्रद्धा और विरक्ति की स्थिरता और वृद्धि के लिए जैन शास्त्रों में अनुप्रेक्षाओं का विधान है । पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । इसके बारह प्रकार हैं —

१ अनित्य भावना—जगत् का प्रत्येक पदार्थ नाशशील है, अनित्य है, वन, वैभव, सत्ता परिवार आदि सब क्षण भंगुर है । लक्ष्मी सध्याकालीन लालिमा की भाँति अनित्य है । जीवन जल के बुलबुले के समान है, और यौवन बादल की छाया के समान है । इनके नष्ट होने में विलम्ब नहीं लगता । इन अनित्य पदार्थों के लिए नित्य आनन्द से वचित होना बुद्धिमत्ता नहीं है ।

२. अशरण भावना—विकराल मृत्यु के पजे में से कोई किसी को बचा नहीं सकता । अन्तिम समय में विशाल सैन्य, बल, धन के भण्डार और वृहद् परिवार कुछ काम नहीं आता । अतएव किसी पर भरोसा करना नादानि है ।

३ संसार भावना—इस भावना में संसार के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यथा संसार में क्या राजा, क्या रक, कोई सुखी नहीं है। प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार का दुःख सता रहा है। सभी संसारी जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हैं। आज जो आत्मीय है, अगले जीवन में वही पराया बन जाता है। पराया अपना हो जाता है। अतएव अपने पराये का भेदभाव कल्पना पर निर्भर है। न कोई अपना है, न पराया है।

४. एकत्व भावना—जीव अकेला ही जन्मता, मरता और सुख-दुःख भोगता है। परलोक की महायात्रा के समय कोई किसी का साथ नहीं देता।

५. अन्यत्व भावना—जगत् के समस्त पदार्थों से आत्मा को भिन्न मानना और उस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना, अन्यत्वभावना है।

६. अशुचिभावना—शरीर सम्बन्धी मोह को नष्ट करने के लिए शरीर की अशुचिता-अपावनता का पुनः पुनः चिन्तन करना वैराग्यवृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।

७. आस्रव भावना—दुःखों के कारणों पर विचार करना आस्रव-भावना है। दुःखों का कारण कर्मबन्ध है। कर्मों का बन्ध किन-किन कारणों से होता है? राग, द्वेष, अज्ञान, मोह, हिंसा, असत्य, असन्तोष, प्रमाद, कषाय आदि किस प्रकार आत्मा को कर्मों से लिप्त कर देते हैं? इत्यादि चिन्तन आस्रव भावना है।

८. संवर भावना—दुःखों के एक कर्मबन्ध के कारणों का किन्तु प्रकार निरोध किया जा सकता है। यह चिन्तन करना संवरभावना है।

९. निर्जरा भावना—जो कर्म पहले बन्ध चुके हैं, उन्हें किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है, इस प्रकार का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

१०. लोकभावना—लोक के पुरुषाकार स्वरूप का चिन्तन करना, लोकभावना है।

११. बोधिदुर्लभ भावना—जिससे आत्मा का उत्थान होता है, जिनमें सार असार का विवेक प्राप्त होता है और जिसके प्रभाव से आत्मा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ बनता है, वह ज्ञान बोधि कहलाता है। उसकी दुर्लभता का विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

१२. धर्मभावना—धर्म के स्वरूप का और उनकी महिमा का चिन्तन करना धर्मभावना है।

चार भावना

इन चारह भावनाओं के अनिर्विकृत साधक के जीवन को उन्नति के गिखर की ओर ले जाने के लिए चार भावनाएँ और हैं—मैत्री, प्रमोद, कण्ठा, और मध्यस्थ।

१. मैत्री-भावना—जब तक साधक के अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव विकसित नहीं होता, तब तक अहिंसा का पालन भी नहीं हो सकता दूसरों के प्रति आत्मीयता के भाव की स्थापना और अपनी तरह दूसरों को दुखी न करने की वृत्ति, अथवा इच्छा, मैत्री कहलाती है। मैत्री भावना का विकास होने पर मनुष्य दूसरे का कष्ट देखकर छटपटाने लगता है, और उनका निवारण करने लिए कोई कसर नहीं रखता है।

मनुष्य की हृदय भूमिका जब मैत्रीभाव से मुससृष्ट हो जाती है, तभी उसमें अहिंसा सत्य आदि के पाँचे पनपते हैं। उसके अन्तःकरण से अनायान ही यह बन्ध फूट पड़ते हैं—

मिस्ती मे सव्वे भूएसु ।

वैरं मज्झं ण केणई ॥

इस भूतल पर बसने वाले प्राणी, चाहे वे मनुष्य हो पशु-पक्षी हो अथवा कीट-पतंग हों, मेरे मित्र हैं। कोई मेरा शत्रु नहीं है। क्योंकि ससार के समस्त प्राणियों के साथ मेरा अनन्त-अनन्त वार आत्मीयता का सम्बन्ध हो चुका है।

इस प्रकार की मैत्रीभावना की परिधि ज्यो-ज्यो बढ़ती जाती है, आत्मा में समभाव का विकास होता चला जाता है और राग-द्वेष का बीज क्षीण होता जाता है। अन्त में मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है, जहाँ जीव मात्र में आत्मदर्शन होने लगता है। उस स्थिति में हिंसा या परपीड़ा के लिए कोई अवकाश नहीं रहता।

२. प्रमोद भावना—गुणी जनो को देखकर अन्तःकरण में उल्लास होना प्रमोदभावना है। प्रायः मनुष्य में एक मानसिक दुर्बलता देखी जाती है। वह यह कि एक मनुष्य अपने से आगे बढ़े हुए मनुष्य को देखकर ईर्ष्या करता है। यही नहीं, कभी-कभी ईर्ष्या से प्रेरित होकर वह उसे गिराने का भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्ति का नाश न हो जाय, अहिंसा और सत्य आदि टिक नहीं सकते। इस दुर्वृत्ति को नष्ट करने के लिए प्रमोदभावना का विधान किया गया है।

३. कारुण्य-भावना—पीड़ित प्राणी को देखकर हृदय में अनुकम्पा होना पीड़ा का निवारण करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना करुणा-भावना है। करुणा भावना के अभाव में अहिंसा आदि व्रत सुरक्षित नहीं रह सकते। मन में जब करुणा भावना सजीव हो उठती है तो मनुष्य अपने किसी व्यवहार अथवा विचार से किसी को कष्ट नहीं पहुंचा सकता। यही नहीं, किसी दूसरे निमित्त से कष्ट पाने वाले की उपेक्षा भी वह नहीं कर सकता।

४. मध्यस्थभावना—जिनसे विचारों का मेल नहीं खाता अथवा जो सर्वथा संस्कारहीन है, किसी भी प्रकार की सद्बस्तु को ग्रहण करने के योग्य नहीं है, जो गलत राह पर चला जा रहा है और सुधारने तथा सही रास्ते पर लगने का प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना मध्यस्थ भावना है।

मनुष्य में प्रायः असहिष्णुता का भाव देखा जाता है। वह अपने विरोधी या विरोध को सहन नहीं कर पाता। मतभेद के साथ मन-भेद होते देर नहीं लगती। किन्तु यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए माध्यस्थभाव जगाना आवश्यक है। इस भावना से विरोधी विचार मनुष्य को क्षुब्ध नहीं करता और उसका समभाव सुरक्षित बना रहता है।

यह चार भावनाएँ आनन्द का निर्मल निर्झर हैं। मनुष्य का जो आन्तरिक सताप शीतल पवन, चन्दन-लेप या चन्द्रमा की अह्लादजनक किरणों से भी शान्त नहीं हो सकता, उसे शान्त करती है। इन भावनाओं से जीवन विराट् और समग्र बनता है। जिन आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिए साधना का पथ अंगीकार किया जाता है उनके विकास में यह उपयोगी सिद्ध होती है।

दशविध धर्म

यद्यपि जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है, फिर भी स्वभाव से वह अमरत्व का स्वामी है। मरना उसका स्वभाव नहीं है। अपने इस स्वभाव के प्रति अव्यक्त आकर्षण होने से ही जीव को मरना अनिष्ट है। अन्यान्य जीवधारियों में तो विवेक का विकास नहीं है, मगर मनुष्य विकसित प्राणी है। उसके सामने भविष्य का चित्र रहता है। वह जानता है कि इस जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है। अतएव वह जब शरीर से अमर रहना असम्भव समझता है, तो किसी दूसरे रूप में अमर होने का प्रयत्न करता है। कोई कीर्ति को चिरस्थायी बना कर अमर रहना चाहता है, कोई सन्तान परम्परा के रूप में अपने नाम पर विजयस्तम्भ बनाना, अथवा

दूसरे स्मारक खड़े करना, यह सब अमर बनने की आन्तरिक प्रेरणा का ही फल है। मगर खेद है कि कोई भी भौतिक पदार्थ मनुष्य की इस अभिलाषा को तृप्त नहीं कर सकता। भौतिक पदार्थ सब नाशशील है, और जो स्वयं नाशशील है, वह दूसरे को अमर कैसे बना सकता है।

हा, अमरत्व प्रदान करने की शक्ति है कर्म में। जैनशास्त्र कहते हैं कि दशविध धर्म मनुष्य को अमर बनाता है।^१ इसी कारण जैन साधुओं के लिए इनका पालन करना आवश्यक बतलाया गया है। उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

१ क्षमा—क्षमा अहिंसा धर्म का एक विभाग है। अपराधी को क्षमा देने और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करने से जीवन दिव्य बन जाता है।

जैनशास्त्र में साधु के लिए दृढतापूर्वक क्षमा याचना करने का विधान है। शास्त्र कहता है साधुओ ! तुमसे किसी का अपराध हो गया हो तो सारे काम छोड़ दो और सब से पहले क्षमा मागो। जब तक क्षमा न मांग लो; भोजन मत करो, गौच मत करो और स्वाध्याय मत करो। क्षमा याचना करने से पहले मुह का थूक गले न उतारो।

तीर्थकरो के इस कठोर विधान का परिणाम यह है कि न केवल जन्म में ही वरन् श्रावक में भी, क्षमायाचना की परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। वे प्रतिदिन, प्रति पखवाड़े, प्रति चौमासी और प्रतिवर्ष खुले हृदय से अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना करते हैं। जैनो का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व, जो पर्यूपण के नाम से विख्यात है, क्षमा याचना का ही पर्व है। उस समय समस्त जैन मुनि और श्रावक सभी जीवो से अपने से ज्ञात-अज्ञात सभी अपराधो के लिए विनम्र भाव से क्षमा मांगते हैं।

२. मार्दव—चित्त में कोमलता और व्यवहार में नम्रता होना मार्दव धर्म है। मार्दव की साधना विनय से होती है। जैन धर्म में विनय को इतना महत्व दिया जाता है कि जैन-धर्म विनयमूलक धर्म ही कहलाता है। शास्त्र कहते हैं—“धम्मस्स विणओ मूल।” अर्थात् धर्म की जड़ विनय है।

मार्दव धर्म की सिद्धि के लिए जाति, कुल, घन, वैभव, सत्ता बल, बुद्धि

१. हरिभद्र सूरि द्वारा उद्धृत, संग्रहणी गाथा, समवायांग १० समभाव स्थानांग सूत्र।

श्रुति और तपस्या आदि के मद का त्याग करना आवश्यक है। अपने आपको ऊँची जाति और उच्च कुल का समझ कर दूसरों के प्रति हीनता का भाव रखता इसी प्रकार धन, वैभव आदि के घमण्ड में आकर किसी को तुच्छ समझना मद है। साधु सब प्रकार के मदों का त्याग करके मार्दव धर्म की आराधना करते हैं।

३ आर्जव—ऋजुता अथवा सरलता को आर्जव कहते हैं। विचार, चाणी और व्यवहार की एकरूपता होने पर इस धर्म की साधना होती है। इस की साधना के लिए कुटिलता का त्याग करना अनिवार्य है।

आर्जव धर्म समाज में पारस्परिक विश्वास के लिए जितना आवश्यक है उतना ही बुद्धि की निर्मलता के लिए भी आर्जव से निर्मल बनी हुई बुद्धि वस्तु के सत्य स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ होती है। कुटिलता के त्यागी पुरुष को किसी प्रकार का छल कपट प्रपच नहीं करना पड़ता। उसका चित्त शान्त, कलुषताहीन और सरल रहता है।

४ शौच—लोभ का त्याग करना शौच धर्म है। साधक के जीवन में रहा हुआ तुच्छ पदार्थ का लोभभी अनर्थकारक होता है, लोभ से सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव साधक को शिष्य लोभ, कीर्तिलोभ, और प्रतिष्ठा लोभ से भी दूर रहना होता है। धन-सम्पत्ति आदि भौतिक पदार्थों का लोभ तो उसे स्पर्श कर ही नहीं सकता।

५. सत्य—पाच अणुव्रतो एव महाव्रतो के विवेचन में सत्य उल्लेख किया जा चुका है। मूल व्रतो में सत्य की गणना करके भी पुनः दश धर्मों में उसे स्थान देना, सत्य के विशिष्ट महत्व का बोधक है। जैन शास्त्रों में बड़े ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में सत्य की महिमा बखानी गई है। प्रश्न व्याकरण शास्त्र में कहा है—

“जं सच्चं तं खु भगवं ।” “अर्थात् सत्य ही भगवान् है ।”

इसके पश्चात् सत्य का महत्व दिखलाते हुए कहा है—सत्य ही लोक में सारभूत वस्तु है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है, मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य मण्डल से भी अधिक तेजस्वी है। गरत्कालीन आकाश से भी अधिक निर्मल है और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभवान है।

६. संयम—मनोवृत्तियों पर, हृदय में उत्पन्न होने वाली कामनाओं पर इन्द्रियों पर, अकुश रखना संयम है।

पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरित कई भारतीय जन भी आज लालसाओं की तृप्ति में जीवन का उत्कर्ष समझ बैठे हैं। इच्छाओं का दमन करना वे पौरुषहीनता का चिन्ह मानते हैं। मगर इस भ्रान्त धारणा का परिणाम हमारे सामने है। मानव जाति की आवश्यकताएँ दिनोदिन बढ़ती जा रही हैं, और मनुष्य उनकी पूर्ति की मृगतृष्णा में परेशान हो रहा है। निरंकुश कामनाओं की बढ़ती ही समार नाना प्रकार के सघर्षों का अखाड़ा बन रहा है। कोई नहीं जानता कि मनुष्य की कामना किस केन्द्र पर जा थमेगी और कब मनुष्य की परेशानियों और सघर्षों की इतिश्री होगी ? यह जानना सम्भव भी नहीं है। क्यों—

“इच्छा हु आगास समा अणंतिया।”

जैसे आकाश अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएं भी अनन्त हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने से पहले ही अनेक नवीन इच्छाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है।

स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियों को सयत किए बिना और लालसाओं को काबू में किए बिना, न व्यक्ति के जीवन में तृप्ति आ सकती है, और न समाज, राष्ट्र या विश्व में ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अतएव जैसे आध्यात्मिक उन्नति के लिए सयम की आवश्यकता है, उसी प्रकार लौकिक समस्याओं को सुलझाने के लिए भी वह अनिवार्य है। भगवान् महावीर हमारा पथ प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—

“कामे कमाही, कमियं खु दुखं।”

अर्थात्—अगर तुमने कामनाओं को लांघ लिया, तो दुखो को भी लांघ लिया।

७. तप—जैनधर्म में तप को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तपस्या के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध होते हैं, तप असाधारण मंगल है। भगवान् महावीर ने अपने समय में प्रचलित तपस्या के सकीर्ण रूप की विशालता प्रदान की है, उस समय में धूनी तपना, काटो पर लेटना, गर्मी के दिनों में धूप में खड़ा हो जाना, शीत में जलागम्य में प्रवेश करना आदि कायकलेग ही प्रायः तप समझा जाता था। पर जैन-दृष्टि सकुचित और बहिर्मुखी नहीं है। उनके अनुसार आत्मा के गुणों का पोषण करने वाला तप ही वास्तविक तप है। इस कारण जैनशास्त्रों में तप के दो विभाग कर दिए गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। उपवास करना, कम खाना, अमुक रस अथवा अमुक वस्तु का त्याग कर देना आदि बाह्य तप हैं, और अपनी भूलों एवं अपने अपराधों के लिए प्रायश्चित्त करना,

गुरुजनों का विनय करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना और उत्सर्ग (त्याग) करना अन्तरंग तप है ।

८. त्याग—अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों से विमुक्त हो जाना, त्याग है । जीवन में सच्चे त्याग का जब आविर्भाव होता है, तब मनुष्य कम से कम साधन-मामग्री में भी सन्तुष्ट एवं आनन्दमय रहता है । भोग-नोलुप व्यक्ति प्रचुर मामग्री पाकर भी सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता । व्यक्तियों के जीवन में त्याग-भाव जागृत करने से अनावश्यक वस्तुओं का संप्रह नहीं किया जाता, परिणामतः दूसरे लोग उनमें वंचित नहीं होते, और विपमता फैलने से रकती है ।

९ अकिंचनता—किसी भी वस्तु पर ममत्व न होना, किसी भी पदार्थ को अपना न समझना, और फूटी कौड़ी भी अपने अधिकार में न रखना अकिंचनता है । ममत्व समस्त दुःखों का मूल है । जब पर-पदार्थ को अपना माना जाता है तो उसके विनाश या वियोग से दुःख होता है । जो किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानता, उसे दुःख ही क्या ? दुःख का मूल ममता और सुख का मूल समता है ।

१०. ब्रह्मचर्य—मव प्रकार के विषयविकार से दूर रहकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में विहार करना ब्रह्मचर्य है । व्रतों के प्रकरण में इसका विचार किया जा चुका है ।

इन दश धर्मों का पालन करना मुनियों के लिए परमावश्यक है । श्रावको को भी अपनी शक्ति के अनुसार पालन करना चाहिए । व्यक्ति और समष्टि की शक्ति के लिए यह धर्म कितने आवश्यक हैं, यह बात इन पर विचार करने में गहज समझी जाती है ।^१

निर्यन्थों के प्रकार

आत्मा अनादिकाल से विकारग्रस्त चला आ रहा है । दीर्घकालीन सस्कारों में ऊपर उठना भी कठिन होता है, अनादि कालीन सस्कारों से सर्वथा ऊपर उठ जाना कितना कठिन है, यह कल्पना कर लेना सरल है । प्रयत्न करते-करते और निरन्तर सावधान रहते-रहते भी भूतकालीन सस्कार कभी-कभी उभर

१ मनुस्मृति और विष्णुपुराण में भी यति धर्म के दश भेदों के नाम में इनका वर्णन किया गया है । यति शब्द से श्रमण धर्मों का ही बोध होता है ।

आते हैं और इस कारण साधु जीवन की साधना में तरतमता होना अनिवार्य है। इस तारतम्य को लेकर जैनशास्त्रों में निर्ग्रन्थ श्रमणों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। उनमें से यहाँ श्रमणों के पाँच भेदों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। वे पाँच^१ प्रकार के श्रमण-निर्ग्रन्थ यह हैं—

१ पुलाकनिर्ग्रन्थ—गेहू की फसल काट कर उसका ढेर किया जाता है, तो उसमें दाने कम और इतर भाग अधिक होता है, उसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ में गुणों की अपेक्षा दोषों की मात्रा अधिक विद्यमान है, वह पुलाक कहलाता है।

२ वक्रुशनिर्ग्रन्थ—गेहू की कटी हुई पुआल को अलग कर दिया जाय, और बाले-बाले अलग छोट ली जाये, तो घास अपेक्षाकृत थोड़ा रह जाता है, फिर भी दानों से अधिक ही होता है। इसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ में पुलाक की अपेक्षा अधिक गुण हैं। फिर भी दोषों की अपेक्षा गुणों की मात्रा अधिक नहीं बच सकी, वह वक्रुशनिर्ग्रन्थ कहलाता है।

३ कुशीलनिर्ग्रन्थ—कषायकुशील निर्ग्रन्थों में दो श्रेणियाँ होती हैं कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। कषायकुशील निर्ग्रन्थ समय पालता है, ज्ञानाभ्यास करता है और यथाशक्ति तपस्या करता है, फिर भी उसके अन्तःकरण में कषाय उमड़ आता है। कषाय को दवाने का प्रयत्न करने पर भी वह पूरा सफल नहीं होता। वह कटुक वचन और निन्दा सुनकर क्रुद्ध हो जाता है। आत्म प्रगल्भा सुनकर अभिमान करता है और शिष्य तथा सूत्र के लोभ से छुटकारा नहीं पाता।

प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ—प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ ज्ञान की सम्यक् प्रकार से आराधना नहीं करता, दर्शन का विराधक होता है और चारित्र्य का तथा लिंग की विराधकता का भी उसमें दोष हो सकता है, और वह तपादि का नियाणा भी कर लेता है इसी लिए उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं।

५ निर्ग्रन्थ—निर्ग्रन्थ जो अपनी सावना के अन्तिम शिखर पर पहुँचने ही वाले हैं, जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने ही वाले हैं, वे साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

१. पंच गियंठा पणत्ता—पुलाए, वउसे, कुसले, गियंठे सिणाए,

५. स्नातकनिर्ग्रन्थ—जिनकी साधना फलित हो चुकी है, जो समस्त आत्मिक विकारों को नष्ट करके वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो चुके हैं, जिन्हें जीवन्मुक्त दशा प्राप्त हो चुकी है, वे अरिहन्त स्नातकनिर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

आवश्यक क्रिया

चाहे अणुव्रती साधक हो, चाहे महाव्रती, उसे अपनी साधना को अग्रसर करने के लिए नित्य नयी स्फूर्ति, और प्रेरणा मिलनी चाहिए। इससे साधना पीछे न हट कर आगे बढ़ती जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जैनशास्त्रों में कुछ नित्यकृत्यों का विधान है। जिन्हें श्रावक और साधु दोनों करते हैं। वह नित्यकृत्य छह हैं। वह इतने आवश्यक माने गये हैं कि जैनशास्त्रों में उन्हें आवश्यक नाम से ही अभिहित किया गया है। उनका दिग्दर्शन यो है—

१ सामायिक—^१ राग-द्वेषमय विचारों से चित्तवृत्ति को पृथक् करके मध्यम्य भाव में रहना सामायिक है। समस्त पापमय क्रियाओं का त्याग करके दो घड़ी पर्यन्त समभाव के सरोवर में अवगाहन करना श्रावक की सामायिक क्रिया है। साधु की सामायिक जीवन पर्यन्त रहती है। क्योंकि साधु सदैव समभाव में रमण करते हैं।

२ स्तवन—तीर्थकरों के गुणों का कीर्तन करना। तीर्थकर देव आदर्श महापुरुष हैं। जिन्होंने आत्मगुणों का चरमरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उनके गुणों के कीर्तन से, कीर्तन करने वाले को अपने निज के स्वाभाविक गुणों का परिचय एवं स्मरण होता है। उन गुणों को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और दृष्टि निर्मल होती है।

३ वन्दना—पूजनीय पुरुषों के प्रति मन, वचन, काय के द्वारा आदर प्रकट करना वन्दना है। पाच परमेष्ठी पूजनीय हैं।

४. प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है—पीछे फिरना, लौटना। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के कारण शुभ सकल्प से विचलित होकर अशुभ सकल्प में चले जाने पर पुनः शुभ सकल्प की ओर आना प्रतिक्रमण कहलाता है। इस आवश्यक क्रिया में अगीकार किए हुए व्रतों में त्रुटियाँ, भूलें हो गई हों, उनका चिन्तन करके पश्चात्ताप किया जाता है।

साधु और श्रावक के व्रत पृथक्-पृथक् हैं, अतएव दोनों का प्रतिक्रमण भी भिन्न-भिन्न है।

प्रतिक्रमण के पांच भेद हैं—

१. दैवसिक, २. रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४. चातुर्मासिक और ५. सावत्सरिक।

दिन भर में हुए दोषों का सध्यासमय चिन्तन करना (प्रतिक्रमण करना) दैवसिक और रात्रि सबंधी दोषों का प्रातःकाल चिन्तन करना रात्रिक प्रतिक्रमण कहलाता है। पन्द्रह दिन के दोषों का चिन्तन करना पाक्षिक, चार मास के दोषों का चिन्तन करना चातुर्मासिक और वर्ष भर के दोषों का प्रतिक्रमण करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण प्रतिदिन सन्ध्या और प्रातः समय किए जाते हैं। पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सध्यासमय, चातुर्मासिक आषाढी, कार्तिकी और फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण भाद्रपद मास में पर्युषण पर्व के अन्तिम दिन किया जाता है।

५. कायोत्सर्ग—शरीर सम्बन्धी ममत्व को हटाने का अभ्यास करना कायोत्सर्ग आवश्यक है। इससे देहाध्यास हटता है, और ममभाव का विकास होता है।

६. प्रत्याख्यान—इच्छाओं का निरोध करने के लिए प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है। आहार, वस्त्र, धन आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना, द्रव्य-प्रत्याख्यान और राग-द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

साधना की कठोरता

जैन श्रमण की आचार-पद्धति ससार में मुक्तिसाधना की कठोरतम प्रणाली है। केशलुचन, भूमिशैथ्या, पैदल विहार, अनियत वास अर्थात् वर्षाकाल को छोड़ कर ग्राम नगर में एक मास अथवा सात दिन से अधिक न ठहरना, फूटी कौड़ी भी पास में न रखना, साथ ही इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत जागृत रहना, अन्तःकरण में कलुपता न आने देना, भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी डाल-मच्छर का दशन आदि के कष्टों को धैर्य के साथ सहन करना, हमेशा हरेक वस्तु याचन करके ही ग्रहण करना, आहार-पानी का लाभ न होने पर

विषाद न करके उसे तपस्या का लाभ मान लेना आदि ऐसी चर्या है, जिसके लिए जीवन को एक खास तरह के माचे में ढालने की आवश्यकता होती है।

साधना का आधार

इनमें पहले साधु-जीवन की चर्या का जो उल्लेख किया गया है, उससे पाठक को यह स्थान अवश्य आ जाएगा कि जैन-साधु वैराग्य और त्याग की साक्षात् प्रतिमा होता है। उम के त्याग-वैराग्य का आधार क्या है? यह प्रश्न गूँडा हो सकता है। इस का उत्तर शास्त्रों में दिया गया है।

वास्तव में इस उग्र साधना का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अभीम आनन्द और विराट् चेतना का धनी होकर भी कर्म उपाधि के कारण सासारिक दुःख का भाजन बन रहा है। कर्म की उपाधि इस साधना के बिना नष्ट नहीं हो सकती। इसी कारण साधु इस साधना को स्वेच्छापूर्वक अंगीकार करता है।

वैराग्य की धणिक तरंग में बह कर साधु बन जाने से काम नहीं चलता। ऐसा करने वाला व्यक्ति न इधर का और न उधर का ही रहता है, ऐसे अस्थिर-चित्त लोगों को सावधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—“तू जिस श्रद्धा के साथ घर छोड़कर निकला है, जीवन के अन्तिम श्वास तक उसी श्रद्धा का निर्वाह कर।”

जिस श्रद्धा और विरक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य श्रमणत्व अंगीकार करता है, जीवन-पर्यन्त उसको स्थायी बनाए रखना साधारण बात नहीं। उसके लिए श्रमण को क्षण भर का भी प्रमाद न करके निरन्तर जागृत रहना पड़ता है। भगवान् महावीर ने कहा है—

सुप्ता अमुणो,

मुण्णिणो सया जागरंति, आचाराग।

“जो प्रमाद में पड़ जाता है, वह मुनित्व से च्युत हो जाता है, अतएव मुनिजन सदैव जागते रहते हैं।” सतत जागृति को बनाए रखने के लिए जैन-शास्त्रों में साधुओं के लिए विविध उपायों का निर्देश किया गया है। जिनका विस्तार-भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

मृत्युकला (संलेखनाव्रत)

जैनदृष्टि के अनुसार धर्म एक कला है और धर्मकला का स्थान समस्त कलाओं में सर्वोपरि है। “मत्वा कला धम्मकला जिणडि” अर्थात् धर्मकला सब कला को जीतती है। धर्मकला जैसे सर्वोच्च है, उसी प्रकार सर्वव्यापक भी है। जैसे जीवन के प्रत्येक व्यापार में वह श्रोत-श्रोत रहनी चाहिए, उसी प्रकार मृत्यु में भी जगत् के सभी धर्मोपदेष्टाओं और नीतिप्रणेताओं ने जीवन की कला का रूप मानव जाति के समस्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मगर मृत्यु जो जीवन का ही दूसरा पहलू या अनिवार्य परिणाम है—की कला का मुन्दर निदर्शन भगवान् महावीर ने कराया है, जैसा अन्यत्र कही देखने को नहीं मिलता है।

मृत्यु की कल्पना भी अत्यन्त भयावह है। संभवतः संसार में अधिक से अधिक भयकर कोई वस्तु है, तो वह मौत ही है। पर भगवान् महावीर जैसे अनूठे कलाकार ने उसे भी उत्कृष्ट कला का रूप प्रदान किया है। उस कला की साधना में सफलता प्राप्त कर लेने वाला साधक ही अपनी साधना में उत्तीर्ण समझा जाता है। जीवन कला की साधना के पश्चात् भी मृत्युकला की साधना में जो असफल हो जाता है, वह मिट्टि में बचिबत ही रह जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—“मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। मृत्यु कोई विकराल दैत्य नहीं है। मृत्यु मनुष्य का मित्र है और उसे जीवन भर की कठिन साधना को सफल की ओर ले जाती है। मृत्यु सहायक न बने तो मनुष्य ऐहिक धर्मान्तिष्ठान का पारलौकिक फल-स्वर्ग और मोक्ष—कैसे प्राप्त कर सकता है?”

कारागार से मनुष्य को मुक्त करने वाला उपकारक होता है। तो इस शरीर के कारागार से छुड़ा देने वाली मृत्यु को क्यों न उपकारक माना जाय।

इस कृमिकुल से मकुल एवं जर्जर देह रूपी पिजड़े से निकालकर दिव्य देह प्रदान करने वाली मृत्यु से अधिक उपकारक और कौन हो सकता है ?

वस्तुतः मृत्यु कोई कष्टकर व्यापार नहीं बरन् टूटी-फूटी झोपड़ी को छोड़कर नवीन मकान में निवास करने के समान एक आनन्दप्रद व्यापार है। किन्तु अज्ञान जनित ममता इस नरक के व्यापार को घाटे का व्यापार बना देता है, और अज्ञानी जीव को अपने परिवार और भोगसाधनों के विछोह की कल्पना करके मृत्यु के समय हाय-हाय करना है, तड़पता है, छटपटाता है और

आकुल-व्याकुल हो जाता है, परन्तु तत्त्वदर्शी पुण्य अनासक्त होने के कारण मध्यरवभाव में स्थिर रहता है और जीवन भर की साधना के मन्दिर पर स्वर्ण-कनक चटा नेता है। वह परम ध्यान एवं निराकुल भाव से अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है, और इस प्रकार अपने वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी मंगलमय बना नेता है। मग्न और धर्म मर्यादाओं में आवद्ध जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। प्रमण्डल का कठोर साधना में जीवन की उद्दाम और उच्छ्वसन वृत्तियों का नियन्त्रित करना भयभीत पुरुष के लिए आवश्यक है। जैन धर्म जीवन में पनायतवादी नीति पर विश्वास नहीं रखता, अपितु सयम और नतोप, स्वाध्याय और तप विवेक और वैराग्य द्वारा इगी जीवन में आध्यात्मिक दमनियों का विकास सर्वज्ञपद पा लेना ही, वह ध्येय सिद्धि मानता है। जैनधर्म कहता कि "जब तप जीओ, त्रिवेक और आनन्द से जीओ, ध्यान और समाधि की नन्मयता में जीओ, अहिंसा और सत्य के प्रसार के लिए जीओ, और जब मृत्यु आवे तो आत्म-साधना की पूर्णता के लिए, पुनर्जन्म में अपने आध्यात्मिक लक्ष्यनिधि के लिए अथवा मोक्ष के लिए, मृत्यु का भी, समाधिपूर्वक वरण करो। मृत्यु के आने से मन की एकाग्रता, ध्यान तन्मयता तथा तदाकारता का आनन्द लो। किन्तु जगत् में जीवन को ऐच्छिक इष्ट, प्रिय और सुखद समझा गया है, और मृत्यु को अप्रिय, भयावह, तथा अनिष्टकारक माना गया है। यही कारण है कि मृत्यु के समय साधक यदि मोह का त्याग न कर पाया तो जीवन की साधना पर कालिख पुत जाती है और दोनो जन्म वर्वाद हो जाते हैं। भगवान् ने मृत्यु विज्ञान के विषय विवेचन में मृत्यु के भी १७ प्रकार बताये हैं —

- १ आवीचिमरण — क्षण-क्षण में आयुधय हांती है, यह क्षण-क्षण का मरण है, मृत्यु ।
- २ तद् भवमरण — शरीर का अन्त, देहान्त हो जाना ।
- ३ अवधि मरण — आयुपूर्ण होने पर मृत्यु का होना ।
४. प्राद्यन्तमरण — दोनो भवों में एक ही प्रकार की मृत्यु का होना ।
५. बालमरण — ज्ञानदर्शन हीन होकर विष-भक्षण आदि से मरना ।
- ६ पण्डित मरण — समाधि भाव के साथ देह त्याग करना ।
७. आसन मरण — सयम पुष्ट होकर मरना ।
८. बालपण्डित मरण — श्रावकपने में मरण अर्थात् अणुव्रत ही धारण कर मरना ।

९. सशल्य मरण — परलोक की मुग्धाशा के साथ या मन में कपट लेकर मरना ।
१०. प्रमाद मरण — सकल्प विकल्प से मुक्त होकर जीवन त्याग करना ।
११. वशान् मृत्यु — इन्द्रियाधीन अथवा कषायाधीन होकर मरना
१२. विपुल मरण — सयमशील व्रत आदि पालन में असमर्थता देख अपवात करना ।
१३. गृद्धपृष्ठ मरण — युद्ध के मैदान में लड़ते हुए मरना ।
१४. भक्तपान मरण — विधिपूर्वक त्याग करके मरना ।
१५. डगित मरण — समाधिपूर्वक मरण ।
१६. पादोप गमन मरण — आहार आदि त्याग कर वृक्ष के समाननिश्चल भाव से मरना ।
१७. केवलि मरण — केवल ज्ञान हो जाने के बाद निर्वाण प्राप्ति ।

इन मृत्यु के भेदों में बालपण्डित मरण, पण्डित मरण तथा अन्तिम शेष के चार मरण, जैनधर्माधिकूल मरण है । जैनधर्म ने मृत्यु के समय समाधि मरण के निमित्त अभ्यस्त हो जाने के लिए सथारा, सल्लेखना, तथा सस्तारक-विस्तार पर सोने के समय रात्रि को भी सागारी सथारा करने का विधान किया है । प्रति-रात्रि इस प्रकार सथारा करने से समाधि मरण की कला का ज्ञान भी हो जाता है, और अकस्मात् सोते-सोते ही मृत्यु हो जाये तो जगत् के मोह की पाप क्रिया भी नहीं लगती । इस सथारे में अन्तर इतना ही होता है कि यह सागारी सथारा कहलाता है, अर्थात् मौकर उठने पर, अथवा रोग शान्त हो जाने पर, कण्ट विकल जाने पर यह नियम समाप्त किया जा सकता है । क्योंकि सथारे की मर्यादा लेने पर व्यक्ति का जगत् की अथवा अपनी ही किसी भी उपाधि पर अधिकार नहीं रहता । मृत्यु कला में शिक्षा भी यही दी जाती है जिससे मरने के समय साधक ममत्व का पूर्णतः त्याग कर सके । इसी लिए सभी प्रकार की मृत्यु में से समाधि मरण को ही श्रेष्ठ माना गया है ।

यह विवेकयुक्त समाधिमरण, पण्डितमरण और सकाममरण भी कहलाता है । प्राणान्तकारी सकट, दुर्भिक्ष, जरा अथवा असाध्य रोग होने पर, जब जीवन का रहना संभव न प्रतीत हो, समाधि मरण अगीकार किया जाता है । जैनगास्त्रो में समाधि मरण का विस्तृत वर्णन है । इसे मृत्युमहोत्सव की भाव पूर्ण सज्ञा दी गई है और अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद करके इसका विशद वर्णन किया गया है ।

समाधिमरण अगोकार करने वाला महासाधक सब प्रकार की मोह-ममता को दूर करके शुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन में लीन होकर समय यापन करता है। उसे पांच दोषों से बचने के लिए सतर्क किया गया है —^१

१. इहलोकाशमा — ऐहिक सुखों की कामना करना ।
२. परलोकाशमा — पारलौकिक सुखों की कामना करना ।
३. जीविताशमा — समाधिसरण के समय पूजा-प्रतिष्ठा होनी ब्रेख कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना ।
४. मरणाशमा — भूख, प्यास या रोगजनित व्याधि से कातर होकर जल्दी मरने की इच्छा करना ।
५. कामभोगाशमा — इन्द्रियो के भोगों की आकाक्षा करना ।

समाधिमरण लेने वाले महात्मा को इन पाँच दोषों से बचना चाहिए, और पूर्ण ममभाव में स्थित होकर समाधिमरण के परमानन्द को कलुषित नहीं करना चाहिए ।

भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट मृत्युकला का यह सक्षिप्त दिग्दर्शन है । दस कला की उपासना श्रावक और साधु दोनों को करनी चाहिए ।





जम्बूद्वीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए
देवाणुप्पियाणं केवतियं काल तित्थे अणुसज्जस्सति ?

गोयमा ! जम्बूद्वीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं
एणवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सति ।

—भगवती, श० २, उ० ८ ।

“हे भंते ! अग्निह्न भगवन द्वारा प्रवर्तित यह धर्म-तीर्थ
इम अवसप्पिणी काल में जम्बूद्वीप के भारत देश में कब तक
चलेगा ?”

“हे गौतम ! मेरा धर्म तीर्थ इसी अवसप्पिणी काल में
जम्बूद्वीप के भारत देश में २१ हजार वर्ष तक चलेगा ।”

जैन-धर्म की परम्परा



जैन धर्म की परम्परा

भारत के आध्यात्मिक निर्माण में जैनाचार्यों का योगदान

भारत के सांस्कृतिक निर्माण में जैनाचार्यों की कितनी महत्त्वपूर्ण देन है, इस सद्य में अब तक कोई व्यवस्थित विचार नहीं किया गया है। किन्तु अमदिग्रह रूप से कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अपने उच्च कोटि के त्यागमय और मयमपूर्ण जीवन और उपदेशों में भारत की संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। उनकी देन अनठी है। जब हम पूर्व, दक्षिण और उत्तर के अन्तर्निर्मित साक्षात्कार करना चाहेंगे, तो हमें चलचित्र की भाँति जैनाचार्यों की भव्य झाँकियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिनका प्रभाव आज तक भारत की कला और जन-जन के मानस पर अक्षुण्ण एवं व्यापक रूप से पडा है।

भगवान् महावीर से १७० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले महान् आचार्य भद्रबाहु को कौन भुला सकता है, जिन्होंने अपने योगबल से भविष्य को जानकर मगध की जनता और सम्राट् चन्द्रगुप्त को द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष का भेकन किया था। उन्हीं के उपदेशों का फल था कि सम्राट् चन्द्रगुप्त उनके साथ दक्षिणयात्रा में गया, भिक्षु बना, और अन्त में जैनविधि के अनुसार समाधिमरण करके कृतकृत्य हो गया।

आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण प्रवास के परिणाम बड़े दूरगामी, स्थायी प्रभाव

वाले, और अनांगे मिट्टे हुए। इस प्रवास के फलस्वरूप मगध का जैन मठ दो भागों में बँट गया। इसका दुष्परिणाम दिगम्बर-श्वेताम्बर के सम्प्रदाय भेद के रूप में प्रकट हुआ, मगर दूसरा महत्वपूर्ण सुफल यह हुआ कि उन्होंने दक्षिण के (कलभ्र, होयसेल, गग आदि) के राजवृत्तों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जैनधर्म और अहिंसा का जो प्रभाव छोड़ा, वह आर्यों और द्रविड़ों की एकता का कारण बना। महान् श्रुतधर आचार्य भद्रवाह पूर्व और उत्तर के मधुर सम्मिलन की प्रयत्न कड़ी थे।

आर्य महागिरि और आर्य मुहस्ती के शिष्य गुणमुन्दर ने सम्राट् सम्प्रति की सहायता से भारत के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त अफगानिस्तान, यूनान और ईरान आदि एशिया के समस्त राष्ट्रों में जैन धर्म का व्यापक प्रचार किया।

सूत्रयुग के प्रतिष्ठापक उमास्वाति, भारत के महान् दार्शनिक मिद्धमेन दिवाकर ने जैन तर्कशास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया और आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना करके और स्वामी सामन्तभद्र ने तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा करके जैन साहित्य को समृद्ध बनाया।

जब हम विक्रम की पहली महस्राब्दी पर दृष्टि डौडाने हैं, तो सहसा हमें अनेकों विभूतियाँ दिखती हैं, जिन्होंने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करने में सराहनीय प्रयत्न किया है। देवधिगणीक्षमाश्रमण, जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण अभयदेव, हरिभद्र, गीलाक, धनेश्वर मूरि, कालिकाचार्य, जिनदाम महत्तर आदि और दूसरी महस्राब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, वादी देव मूरी, यशोविजय आदि वे आचार्य हैं, जिन्होंने धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक विचारों से देश को सम्पन्न बनाया है। दूसरी तरफ आचार्य गणधर, भूतवली, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, पूज्यनाद, पात्रकेमरी, अकलक, विद्यानन्दी, मिद्धान्तचक्रवर्ती नैमिचन्द्र जिनमेन, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र आदि भी हैं जिन्होंने दक्षिण और उत्तर को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया है।

भारत के निर्माण में जैनाचार्यों का योगदान यद्यपि मुख्यतया आध्यात्मिक रहा है, तथापि गुजरात का साम्राज्य कुमारपाल को अहिंसा की दीक्षा, तथा दक्षिण में विजय नगर की राज्य-व्यवस्था में अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा विहार और मथुरा प्रदेशों में, अहिंसक वातावरण उत्पन्न करने में भी इन्हीं आचार्यों का योग रहा है।

जब तक भारतवर्ष में अहिंसा और भूतदया, निरामिष भोजन, दुर्व्यसनों के प्रति वृणा, मद्यपान एवं चारित्रिक निर्बलताओं के विरुद्ध जो सामूहिक भावना दिखाई देती है उसके पीछे जैनाचार्यों का प्रबल हाथ रहा है।

जैनाचार्यों ने तथा जैन माधुयों ने अहिंसा, तप, त्याग की कसौटी पर जो उज्ज्वल स्वरूप विद्व के सामने रखा है, वह आज भी भारत के लिए, गौरव की वस्तु है।

मौरगुट्ट में अहिंसक भावना को जो उल्लेखनीय प्रश्रय मिला है, वह जैनाचार्यों की ही देन है। उसका फल अनेक रूपों में हमारे सामने आया। स्वामी दयानन्द ने वेदों का जो अहिंसापरक अर्थ किया और महात्मा गांधी ने जो अहिंसा-नीति अपनाई, उसके पीछे मौरगुट्ट का अहिंसामय वातावरण ही कारण है। गांधी जी को तो जैन मन्त वेचर स्वामी ने विलायत जाने से पूर्व मद्य, मांस और परस्त्री-गमन का त्याग करवाया था। कवि राजचंद भाई ने उन्हें पूर्ण अहिंसक बना दिया।

आज हमारा अहिंसा की ओर बढ़ने की मोक्ष रूढ़ा है। यह प्रमत्तता की बात है। किन्तु जैन मद्य ने हिंसा से भरी विगत गताविद्यों में अहिंसा की जो दिव्य ज्योति जलाए रखी वह उसकी भारत को, विश्व को और समस्त मानवता को मद्य से बड़ी देन है।

राजाओं का योगदान

भारतीय इतिहास का गहरा आलोडन करने वाले कुछ विद्वानों का मत है कि ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक ज्ञान क्षत्रियों से प्रारंभ होकर ब्राह्मणों के पास पहुँचा। जैन इतिहास इस अभिमत की पुष्टि करता है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकरों का जन्म राजवंशों में ही हुआ था। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में अनेकानेक जैन राजा भी हुए। चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने जैनेन्द्रीय दीक्षा धारण की, और जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में योगदान दिया। उन सब का इतिहास आज उपलब्ध नहीं। तथापि भ० महावीर के समसामयिक और उनके पञ्चाद्वर्ती कुछ राजाओं का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा, जिन्होंने जैन धर्म की प्रभाव-वृद्धि में योग देकर अपने को धन्य बनाया है।

चेटक तथा अन्य राजा—राजा चेटक भगवान् के प्रथम श्रमणोपासक थे। वैशाली के अत्यन्त प्रभावशाली और वीर राजा थे। वह अठारह देशों के गणराज्य के अध्यक्ष थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि—मैं अपनी कन्याएँ जैन के सिवाय किसी अन्य को नहीं दूंगा। नीति की प्रतिष्ठा और शरणागत की रक्षा के लिए चेटक को एक बार मगधराज कूणिक के साथ भीषण संग्राम करना पड़ा था।

सिन्धु सौवीर के उदयन, अवती के प्रद्योत, कौशाम्बी के शतानीक

चम्पा के दधिवाहन, और मगध के श्रेणिक राजा, चेटक के दामाद थे। यह मभी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। राजा उदयन ने तो भगवान् के निकट दीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक और कूणिक—इतिहासप्रसिद्ध मगधाधिपति विम्बसार, जैन साहित्य में श्रेणिक नाम से भी प्रसिद्ध है। उनकी गाथाएँ जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं। श्रेणिक के पुत्र सम्राट् कूणिक भी भगवान् के परम भवन थे। कूणिक के पुत्र उदयन ने भी जैन धर्म की ही शरण गही थी।

काशी-कौशल के अठारह लिच्छवी, और मत्ली राजाओं ने भगवान् महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया था। इमसे प्रतीत होता है कि यह सब राजा जैन धर्म से प्रभावित थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त जैनधर्म के अनुयायी थे। भद्रबाहु स्वामी के निकट, मुनि दीक्षा अंगीकार करके मैसूर (दक्षिण) गये। श्रमण-त्रेलगोला की गुफा में आत्मसाधना की। इनके मंत्री चाणक्य भी जैनधर्मी थे और जैन श्रावक गणी के पुत्र थे।

सम्राट् अशोक—अशोक चन्द्रगुप्त के पौत्र थे। उन्होंने अहिंसा की जो सेवा की है, वह प्रसिद्ध है। “अर्ली फेथ आफ अशोक” नामक पुस्तक के अनुसार अशोक ने अहिंसा विषयक जो नियम प्रचारित किये, वे बौद्धों की अपेक्षा जैनो के साथ अधिक मेल खाते थे। पशु-पक्षियों को न मारने, निरर्थक जंगलो को न काटने, और विविध तिथियों एवं पर्वदिनों में जीवहिंसा बंद रखने आदि के आदेश जैन धर्म से मिलते हैं।

सम्राट् सम्प्रति—सम्प्रति अशोक के पौत्र थे। यह एक बार युद्ध में विजय प्राप्त करके खुशी-खुशी माता के पास पहुँचे। देखा, माता के चेहरे पर प्रसन्नता के बदले, आँखों में आँसू हैं। कारण पूछने पर माता ने बतलाया—नरमहार करके प्राप्त की गई विजय, सच्ची विजय नहीं। सच्ची शान्ति अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इत्यादि उपदेश सुन कर सम्प्रति ने प्रख्यात जैन मुनि आर्य मुहस्ती से जैनधर्म अंगीकार किया। सम्राट् सम्प्रति ने अनार्य देशों में जैन धर्म के प्रचार के उद्देश्य से, जैनधर्माश्रमों के लिए धर्मस्थानों की व्यवस्था करवाई थी। अनार्य प्रजा के उत्थान के लिए सम्प्रति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनसे धर्मप्रचारक भेजकर जैनधर्म की शिक्षाएँ प्रसारित की। अनेक विद्वानों का

मन है कि याज्ञ जो शिलालेख अशोक के नाम में प्रसिद्ध हैं, मभव हे वे सम्प्रति के निश्चयार्थे हैं।

कनिंग चक्रवर्ती खार्वेल—ईसा मन् से पूर्व दूसरी शताब्दी में महाराजा खार्वेल हुए। उस युग में राजनीति में खार्वेल सब में अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। उनके समय में जैनधर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ। उनके प्रयास में जैन साधुओं तथा जैन विद्वानों का एक महा-सम्मेलन हुआ। जैन-सभ ने उन्हें महाविजयी योगराजा तथा भिक्षुराजा और धर्मराजा की भी पदवी प्रदान की। जैनधर्म के प्रति ही गई खार्वेल की सेवाएँ बहुमूल्य हैं। वह अत्यन्त-प्रजापी राजा हुए हैं।

कलचूरी और कलभ्रवंशी राजा—कलचूरी राजवंश मध्यप्रान्त का सबसे बड़ा राजवंश था। आठवीं-नौवीं शताब्दी में उसका प्रबल प्रताप चमक रहा था। इस वंश के राजा जैनधर्म के कट्टर अनुयायी थे। त्रिपुरी इनकी राजधानी थी। प्रो० रामस्वामी श्यामाजी का कथन है कि इनके वंशज आन भी जैन कलार के नाम में नागपुर के आस-पास मौजूद हैं।

होयसेल वंशी राजा—होयसेल वंश के अनेक राजा, अमात्य और सेनापति जैनधर्म के अनुयायी थे। सुदृढ मुर्ति इस वंश के राजगुरु थे। पहले यह चालुक्यों के माण्डनिक थे, पर १११६ में उन्होंने स्वतंत्र राज्य की प्रतिष्ठा की थी।

गगवशी राजा—ईसा की दूसरी सदी में गग राजाओं ने दक्षिण प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। ग्यारहवीं सदी तक वे विस्तृत भूखण्ड पर शासन करते रहे। यह सब राजा परम जैन थे। इस वंश के प्रथम राजा माधव थे, जिन्हें कोणणी वर्मा भी कहते हैं। वह जैनाचार्य मिहनन्दि के गिण्य थे। उनके समय में जैनधर्म, राजधर्म बन गया था। इसी वंश का दुविनीत राजा प्रसिद्ध वैद्याकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का गिण्य था। एक और राजा मारसिंह ने अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त करके, ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके अन्त में भिक्षु का पद अंगीकार किया। जैनाचार्य अजितसेन में पादमूल में समाधिभरणपूर्वक आयु पूर्ण की। शिलालेख के आधार में उनकी मृत्यु ई० स० ६७५ में हुई।

इस वंश की महिलाएँ भी जिनेन्द्र देव की महान् उपासिकाएँ थीं। राजा मार्गमह द्वितीय के सुयोग्य मंत्री चामुण्डराय थे। मार्गमह के पुत्र राजमल्ल के वह प्रधानमंत्री, और सेनापति हुए। वह बड़े जैनधर्मानुयायी थे। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र चामुण्डराय के धर्मगुरु थे। कनडी भाषा में लिखित "त्रिषण्डिलक्षण" महापुण्य उनकी प्रसिद्ध रचना है। इसी चामुण्डराय ने श्रमण वेणुगोला में,

सभ्यता बढ़ती घटती ग्ही है, किन्तु जैन धर्म की मरिता कभी सूखी नहीं, वह मना में मानव-जाति को शान्ति का सदेव देती ग्ही है। जनता पर और राजाओं पर जैन धर्म का बहुत बडा अरुतर रहा है। भारत के बडे-बडे सम्राट् जैन धर्म के ध्वज की आशा में आत्मनिरीक्षण का पाठ पढते रहे हैं। स्वयं भगवान् महावीर के समय में ही जैन धर्म मगध^१ का राज्य-धर्म था। नात्कालिक भारत के १६ प्रमुव राज्यों में जैन धर्म बहुत तेजस्वी रहा था। भ० महावीर के मामा की पाँच पुत्रियों ने ही पाँच राजाओं को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। यद्यपि महागजा चेटक की मात पुत्रियाँ थी, किन्तु इनमें से दो नो, ब्रह्मचारिणी ही रही थी। त्रमश इन पाँचों में से प्रभावती ने सिन्धु सौवीर के सम्राट् उदयन को, शिवा ने अरुवन्नीपति चण्डप्रद्योत को, चेलणा ने मगधाधिपति श्रेणिक को, मृगावती ने वत्सपति गतानीक को और पद्मावती ने अगदेश के अधिपति दधिवाहन को जैन धर्म को और उन्मुख किया था। उस समय के राजाओं और राजकुमारों राणियों और राजकुमारियों पर श्रमण महावीर का इतना प्रभाव था कि कितने ही राजपुत्रों और राजपुत्रियों ने साधु धर्म की दीक्षा तक ग्रहण की थी। वह जैन धर्म का स्वर्ण युग था, चारों ओर जैन धर्म की साधना का स्वर गुँज रहा था। राज्याश्रय जैनधर्म को पूर्णतया प्राप्त था किन्तु जैन धर्म आचार का धर्म है। उसे राज्याश्रय या व्यक्ति के आश्रय की तडप नहीं है उस समय यदि राज्यस्तर पर विधान के नाते जैन धर्म प्रचारोन्मुख बनाया जाता तो अन्यधिक विस्तृत हो जाता।

किन्तु जैन धर्म लोकीषणा और लोक समग्रहर्षात्त को धार्मिकता के लिए अनिवाय्य गर्त नहीं मानता, फिर भी जैनधर्म का प्रचार बडा। सब में पहली क्षति जैन धर्म को चेटक और कोणिक के वैशालि युद्ध में हुई, उसमें जैन धर्म के मानने वाले १८ राजाओं का विनाश हो गया, चेटक की पराजय हुई, और, कोणिक विजित होने पर भी जैनो का ग्लानि-पात्र बन गया और अत में वह बौद्ध हो गया। फिर दो गताव्दी के बाद जैन धर्म का वर्चस्व गुप्तवश के राजत्व काल में बना। महागजा अशोक के पौत्र समप्रति ने तो गुरु गुणमुन्दर की आज्ञा लेकर जैन धर्म को विश्व विस्तृत करने के लिए बहुत प्रयत्न किया पर समप्रति के पञ्चात् जैन धर्म के प्रसार की परम्परा चल नहीं सकी। यही कारण है कि उस समय जैन धर्म ईरान, अफगानिस्तान और ग्रीस आदि समग्र देशों में फैला। यही नहीं अपितु जैन धर्म ने ग्रीस के महान् चिन्तक पाइथेगोरस को "आर्हन" धर्म की दीक्षा दी। आज भी मसार् में

१ कंबोज, पाञ्चाल, कौशल, काशी, वत्स, श्रावस्ती, वैशाली, मगध, यग, कुशस्थल अग, धन कटक, आंध्र, कलिग, अवंती, सिन्धुसौवीर।

पाइथेगोरियन लोगों की कमी नहीं। उनके सिद्धान्त, उनकी मान्यताएँ जैन धर्म में अनुप्राणित हैं। द्विगम्बर पट्टावलियों में तो पिहित्ताश्रव (पाइथेगोरस) नाम के मन्त्र का उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर में २० वर्ष पूर्व पाइथेगोरस भारत में आये थे, और उन्होंने भगवान् पार्वनाथ के माधुओं में जैन-दीक्षा ग्रहण कर ग्रीस में जैन धर्म का प्रचार किया था।

तत्त्व और सिद्धान्त की दृष्टि में जैन धर्म आज विश्व-व्यापी बन जा रहा है क्योंकि विश्व में सामाजिक, सैद्धान्तिक, और राजनैतिक नेता-गण अहिंसा को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हैं। आज युद्ध के विरुद्ध शान्तिवादियों का मोर्चा भगवान् महावीर के उम्र कथन के अनुसार बन रहा है जिसमें उन्होंने कहा था कि —

“मा हणो, मा हणो”

(मत हिंसा करो, मत हिंसा करो) का उपदेश देने की भी प्रेरणा दी थी।

जैनधर्म एक विचारधारा है जो सामाजिक नियमों व व्यावहारिक सम्बन्धों को परिवर्तन करना धर्म के लिये अनावश्यक समझता है।

जैन धर्म न तो किसी की भाषा परिवर्तित करना चाहता है, न किसी की विवाह-पद्धति में हस्तक्षेप करना चाहता है, और न ही राज्य तथा भौतिक समृद्धि पर उसने कभी विश्वास किया है, वह तो मानवता के जागरण, विकारों के नियंत्रण और आत्मदर्शन का संदेश विश्व में फैलाना चाहता है।

ये सभी सम्राट्^१ स्वयं शुद्धाचरणी थे, इनके शासनकाल में निरपराध प्राणियों की हत्या बन्द रही है, लोग सुखी और समृद्धिगाली थे। सभी अपने-अपने नियत कार्यों को किया करते थे, एक को दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं था, ऊँच-नीच के भेदों का पुण्य-पाप का फल समझते थे, इसी लिए पाप कर्म में हट कर, पुण्य कर्म करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। वासक कभी किसी के धर्म या सामाजिक नियम में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। प्रजा की रक्षा-व्यवस्था के लिए भूमि और चुड़ड़ी कर के अतिरिक्त कोई कर नहीं लेते थे, वह था “सुराज्य” जिसे लोग चाहते हैं। दक्षिण भारत में गगवशीय आदि जैन धर्मानुयायी राजाओं ने सैकड़ों वर्ष तक निष्कटक राज्य किया है। चामुण्डराय आदि वीरों ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। आज भी मुडविक्री में राजवश के उत्तराधिकारी विद्यमान हैं।

भारतवर्ष के ऐतिहासिक क्षत्रिय जैन सम्राट् तथा भूपति

क्रम	नाम सम्राट	वंश	शासन-काल ईस्वी पून	कुल वर्ष	राजधानी	विवेक विवरण
१	निम्बसार	गिशुनाग	५४३—४६१	५२	राजग्रह	उपनाम श्रेणिक, भ० महावीर के मोमा ।
२	अजातशत्रु	"	४६१—४५६	३२	पाटलीपुत्र	उपनाम, कोणिक, बुद्ध के गम-कगीन ।
३	उदारन	"	४५६—४१३	४६	"	सिकन्दर भारत में आया
४	महापद्म	"	३२३—	२४	"	गिन्युकन भारत प्राया ।
५	चन्द्रगुप्त	मौर्य	३२२—१६८	२५	"	भारत का महान् मझाद् राज्य के केवल चारवग जैन रहा
६	विन्दुमार	मौर्य	२६८—१७३	४१	"	फिर बाद बन गया ।
७	प्रबोक्त	"	२७३—२३२			अशोक का पौर ।
८	सम्प्रति	चंदी	१७७—१५२	२५	कलिंग	कलिंग विजय किया ।
९	खारवेल	"	मन् ७८ ईस्वी		पेगावर	वीर-मन में दो मझदाय हुए ।
१०	कनिक	परमार	३७५		उज्जैन	चीनी यात्री फाहियान आया ।
११	विक्रमादित्य	परमार	६०६—६४७	४१	कशीज	चीनी यात्री ह्वेनसांग आया ।
१२	हर्ष	राष्ट्रकूट	७५०		मलनेट	मैगद मालार मगजः को पुनः म
१३	अमोघवर्षा	तोमर	१०००—१०५०	५०	श्रावस्ती	मारा ।
१४	सहिल देवराज					
१५	कुमारपाल	चालुक्य	११६२—११७३	३१	अणहियापुर	
१६	हेमू (हेमराज)	पडिहाग	११५६—		रिल्ली	प्रागर में पहली टावर खेनेवागा

“जत्ता ते भंते ! अवणिज्जं अव्वाचाहं फासुयविहारं ?”

“सोमिला ! जत्ता विसे, जवणिज्जं पि मे अव्वाचाहं पि मे फासुयविहारं पि मे ।’

—भगवती, श० १८, उ० १० ।

“हे भते ! आपके धर्म मे यात्रा, यापनीय अव्यावाध और विहार है क्या ?”

“हे सोमिल, है ! तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों मे हमारी यत्ना की प्रवृत्ति ही हमारी यात्रा है ।”

इन्द्रिय और कषायो को जीतना ही यापनीय है । वात, पित्त, कफ और सन्निपात रोगो की उपशान्ति और अशुभ कर्मो का उदय मे नही आना ही अव्यावाध है ।

उद्यान, धर्मशाला, स्त्री-पशु रहित शुद्ध आसन ग्रहण करना ही हमारा प्रासुक विहार है ।

“हे सोमिल ! सयम की प्राप्ति द्रव्य, तप और निक्षेप के ज्ञान-विज्ञान के बिना नही हो सकती ।”

यही धर्म की विशेषता है ।

जैन-धर्म की विशेषताएँ



जैन धर्म की विशेषताएँ

जैन धर्म की वैज्ञानिकता--पिछले प्रकरणों में जैन धर्म की मान्यताएँ मक्षेप में बतलाई जा चुकी हैं। ध्यानपूर्वक उन्हें पढ़ने से जैन धर्म में, अन्य धर्मों की अपेक्षा जो विशेषताएँ हैं, उनका आभास मिल सकता है। किन्तु उनकी ओर विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करने के लिए उनका पृथक् उल्लेख कर देना ही उचित होगा।

तत्त्व का ज्ञान तपस्या एवं साधना पर निर्भर है। सत्य की उपलब्धि इतनी सरल नहीं है कि अनायास ही वह हाथ लग जाय। जो निष्ठावान् साधक जितनी अधिक तपस्या, ग्राम साधना करता है, उसे उतने ही गुह्य-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की बात छोड़ दे और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के ही जीवन पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट विदित होगा कि उनकी तपस्या और साधना अनुपम और असाधारण थी। भ० महावीर साढ़े बारह वर्षों तक निरन्तर कठोर तपश्चर्या करते रहे। उस असाधारण तपश्चर्या का फल भी उन्हें असाधारण ही मिला। वे तत्त्वबोध की उस चरम सीमा का स्पर्श करने में सफल हो सके, जिसे साधारण साधक प्राप्त नहीं कर पाते। वास्तव में जैनधर्म के सिद्धान्तों में पाई जाने वाली खूबियाँ ही उनका रहस्य हैं। जैन मान्यताएँ यदि वास्तविकता की

सुदृढ नीव पर अवस्थित और विज्ञानसम्मत है तो उनका रहस्य भगवान् महावीर का तपोजन्य परिपूर्ण तत्त्वज्ञान ही है ।

सृष्टि रचना—उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के ही प्रश्न को ले लीजिये, जो दार्शनिक जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारभूत है । विग्व में कोई दर्शन या मत न होगा, जिसने इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास न किया हो । क्या प्राचीन, और क्या नवीन, सभी दर्शन इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं । मगर वैज्ञानिक विकास के इस युग में उनमें अधिकांश उत्तर कल्पना-मात्र प्रतीत होते हैं । इस मन्त्रध में महात्मा बुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने बिना किसी सकोच या झिझक के स्पष्ट कह दिया कि लोक का प्रश्न अव्या-कृत है—अनिर्णीत है । इसका आशय यही लिया जा सकता है कि लोक-व्यवस्था के सबंध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

इस स्पष्टोक्ति के लिए गौतम बुद्ध धन्यवाद के पात्र है, मगर लोक के विषय में हमारे अन्तःकरण में जिज्ञासा सहज रूप से उदित होती है, उसकी तृप्ति इस उत्तर से नहीं हो पाती । और जब हम जिज्ञासा तृप्ति के लिए इस विषय के विभिन्न दर्शनों के उत्तर की ओर ध्यान देते हैं, तब भी निराशा का सामना करना पड़ता है ।

सृष्टि रचना के विषय में अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । प्रथम यह कि सृष्टि का विधिवत् निर्माण हुआ है या नहीं ? अगर निर्माण हुआ है, तो इसका निर्माता कौन है ? यदि निर्माण नहीं हुआ तो सृष्टि कहाँ से आई ? सृष्टि-निर्माण से पहले क्या स्थिति थी ?

इन प्रश्नों पर दार्शनिक कभी सहमत नहीं हो सके । एक कहता है— सृष्टि देव^१ के द्वारा उत्पन्न की गई है । तो दूसरा कहता है—“ब्रह्म या ब्रह्मा ने इसकी रचना की है ।” किसी का मत है कि ईश्वर इसका निर्माता है, और किसी के मतानुसार प्रकृति से सृष्टि बनी है । कोई स्वयंभू को सृष्टि का कर्ता कहते हैं । कोई अडे से उसकी उत्पत्ति बतलाते हैं । उनकी मान्यता के अनुसार यह चराचर विग्व, अडे से उत्पन्न हुआ है । जब ससार में कोई भी वस्तु नहीं थी तब ब्रह्मा ने पानी में एक अडा उत्पन्न किया । बढ़ते-बढ़ते वह बीच में से फट गया । उसके दो भागों में से एक से ऊर्ध्व-लोक की और दूसरे से अधोलोक की उत्पत्ति हुई ।

कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, कोई नियति मे और कोई यदृच्छा से।

सृष्टि से पहले कौन-सा तत्त्व था, इस विषय मे भी विभिन्न दर्शनो मे भर्त्सक्य नहीं है। किसी के मन्तव्य के अनुसार सृष्टि से पहले जगत् असत् था—“असद्वा इदमग्र आसीत्।” दूसरे कहते हैं—“सदैव सोम्येदमग्र आसीत्” अर्थात् हे सौम्य ! जगत् सृष्टि से पहले सत् था। किसी का कहना है—“आकाशः परायणम्” अर्थात् सृष्टि से पूर्व आकाश-तत्त्व विद्यमान था। कोई इस मन्तव्य के विरुद्ध कहते हैं—

“नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्।” “मृत्युर्नैवेदमावृतमासीत्”

सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, सभी कुछ मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

अभिप्राय यह है कि जैसे सृष्टि-रचना के सबध मे अनेक मान्यताएँ हैं, उसी प्रकार सृष्टिपूर्व की स्थिति के सबध मे भी परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

सृष्टिप्रक्रिया सबधी इन परस्पर विरुद्ध मन्तव्यो की आलोचना जैनदर्शन मे विस्तारपूर्वक की गयी है। उसे यहाँ प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं। तथापि यह समझने मे कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि इन कल्पनाओ के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् सत् मान लिया जाय तो उसके नये सिरे से निर्माण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो सत् है वह तो है ही। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् एकान्त असत् था और असत् से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो शून्य से वस्तु का प्रादुर्भाव स्वीकार करना पडेगा, जो तर्क और बुद्धि से असंगत है। इसी प्रकार सृष्टिनिर्माण की प्रक्रिया भी तर्कसंगत नहीं है।

इस विषय मे जैन धर्म की मान्यता ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म के अनुसार जड़ और चेतन का समूह यह लोक सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है। जड़ और चेतन मे अनेक कारणो से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है तब दोनो में रूपान्तर होता है, इसी प्रकार जड़ के सम्पर्क से चेतन मे भी रूपान्तर होता रहता है। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा मे भी हम मूल वस्तु की सत्ता का अनुगम स्पष्ट देखते हैं। इस अनुगम की अपेक्षा से जड़ और चेतना अनादिकालीन हैं, और अनन्त

काल तक स्थिर रहने वाले हैं। सत् का शून्य रूप में परिणाम नहीं हो सकता, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव या उत्पाद नहीं हो सकता है।

पर्याय की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अव्यय होता है। परन्तु उसके लिए देव, ब्रह्म, ईश्वर या स्वयम् की कोई आवश्यकता नहीं होती, अतएव न तो जगत् का कभी मर्जन होता है, न प्रलय ही होना है। अतएव लोक शाश्वत है। प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाने वाले श्री जे० बी० एम० हाल्डेन का मत है कि —“मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है। सृष्टिविषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है, और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नहीं कर सकता।”

पृथ्वी का आधार—प्राचीन काल के दार्शनिकों के सामने एक जटिल समस्या और खड़ी रही है। वह है इस भूतल के टिकाव के सबब में, यह पृथ्वी किम आधार पर टिकी है। इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषियों ने अनेक प्रकार में दिया है। किसी ने कहा—“यह गोपनाग के फण पर टिकी है।” कोई कहते हैं, “कछुए की पीठ पर ठहरी हुई है”, तो किसी के मत के अनुसार “बराह की दाढ़ पर।” इन सब कल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान नहीं रह गया है।

जैनागमों की मान्यता इस सबब में भी वैज्ञानिक है। इस पृथ्वी के नीचे अनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनु-वात है और तनुवायु के नीचे आकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं है।

लोकस्थिति के इस स्वरूप को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। कोई पुष्प चमड़े की मगक को वायु भर कर, फुला दे और फिर मगक का मुँह मजबूती के साथ बाँध दे। फिर मगक के मध्य भाग को भी एक रस्मी से कस कर बाँध दे। इस प्रकार करने से मगक की पवन दो भागों में विभक्त हो जायेगी और मगक डुगडुगी जैसी दिखाई देने लगेगी। तत्पश्चात् मगक का मुँह खोल कर ऊपरी भाग का पवन निकाल दिया जाय और उसके स्थान पर पानी भर कर पुनः मगक का मुँह कस दिया जाय, फिर बीच का बन्धन खोल दिया जाय, ऐसा करने पर मगक के ऊपरी भाग में भरा हुआ जल ऊपर ही टिका रहेगा, वायु के आधार पर ठहरा रहेगा, नीचे नहीं जाएगा, क्योंकि मगक के ऊपरी भाग में भरे पानी के लिए वायु आधार रूप है। इसी प्रकार वायु के आधार पर पृथ्वी आदि ठहरें हुए हैं।

स्थावरजीव—जैन धर्म वनस्पति पृथ्वी, जल, वायु और तेज से चैतन्य शक्ति स्वीकार करके उन्हें स्थावर जीव मानता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा वनस्पति की मजीवता प्रमाणित कर दी है। उसके पठनानु विज्ञान पृथ्वी की जीवत्वशक्ति को स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है। विन्थ्यान भूगर्भ वैज्ञानिक श्री फ्रांसिस ने अपनी दशवर्षीय भूगर्भयात्रा के सम्मरण लिखते हुए Ten years under earth नामक पुस्तक में लिखा है कि—

“मैंने अपनी इन विविध यात्राओं के दौरान में पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे हैं जो आधुनिक पदार्थविज्ञान में विरोधी थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक मृनिश्चिन्तन नियमों द्वारा समझाये नहीं जा सकते।”

इसके पठनानु वे अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—

“तो प्राचीन विद्वानों ने पृथ्वी में जीवत्वशक्ति की जो कल्पना की थी, क्या वह सत्य है ?”

श्री फ्रांसिस भूगर्भ सत्रयों अन्वेषण कर रहे हैं। एक दिन वैज्ञानिक जगत् पृथ्वी की मजीवता स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परन्तु जब तक वह कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक अपने असली स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाती। जब कोई सबल आत्मा आवरणों को निशेष कर देती है, तो भूत और भविष्य वर्तमान की भाँति माफ दिखाई देने लगते हैं।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० जे० बी० राडन ने अन्वेषण करके अनेक आश्चर्यजनक तथ्य घोषित किये हैं। उन तथ्यों को भौतिकवाद के पक्षधारी वैज्ञानिक स्वीकार करने में हिचक रहे हैं, मगर उन्हें अमान्य भी नहीं कर सकते हैं। एक दिन वे तथ्य अन्तिम रूप में स्वीकार किये जायेंगे, और उस दिन विज्ञान आत्मा तथा सम्पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) की जैन मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा।

लोकोत्तर ज्ञान—ध्यान और योग जैन-साधना के प्रधान अंग हैं। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ध्यान और योग के द्वारा विस्मयजनक आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान भी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ है। इस सबध में प्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रेवाल्टर की The leaving brain नामक पुस्तक पठनीय है। वे कहते हैं—

अनेकान्त दृष्टि

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य बुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बंधनों से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति के बिना गाव्वत ज्ञान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। बोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुवांगी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्त्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है, तो ही ज्ञान, आत्म-विकास का साधन बनता है। इसके विपरीत ज्ञान के साथ यदि उद्वेगता, सकीर्णता, पक्षपान एवं अमहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है तो वह अधःपतन का कारण बन जाता है। मानवीय दार्ढ्य से उत्पन्न यह अवाञ्छनीय वृत्तियाँ अमृत को भी विष बना देती हैं।”

जैनधर्म ने उम कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विपाकत बनने से रोकती है। वह कला ज्ञान को सत्य, शिव, और सुन्दर बनाती है, उम कला को जैनदर्शन ने अनेकान्तदृष्टि का नाम दिया है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादों का साधारण समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि में उदारता, नम्रता, सहिष्णुता और सात्त्विकता उत्पन्न करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह एक महान् वरदान है।

अहिंसा

मानव ज्ञान को मान्यभक्षण की अवाञ्छनीयता एवं अनिष्टकरता समझा कर मासाहार से विमुख करने का सूत्रपात जैन धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन धर्म ने ही दिया है। जैनधर्म ने अहिंसा को इतनी दृढता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिंसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया, कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अग्र बन गई। जैन धर्मोपदेगको की यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिंसा की साधना ही है। उनकी बदौलत ही आज अहिंसा विद्यमान्य सिद्धान्त है। देग-काल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही हैं। जैन धर्म की, अहिंसा के रूप में एक महान् देग है, जिसे विद्य के मनीषी कभी भूल नहीं सकते।

यो तो भगवान् ऋषभदेव के युग में ही अहिंसा तत्त्व, प्रकाश में आ चुका था मगर जान पड़ता है कि मध्यकाल में पुनः हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी।

तब बाईंगवे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने दिवाह के लिए वसुपुरगृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशु-पक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में भारी मनमनी पैदा कर दी। वामुदेव कृष्ण के भाई अरिष्टनेमि का वह माहमपूर्ण उन्मर्ग नार्थक हुआ और समाज में पशुओं और पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पञ्चान् तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विपैले प्राणियों पर अपनी करुणा बँधी वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया। फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी, उसे निष्शेष करने के लिए चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। आज यद्यपि हिंसा प्रचलित है, फिर भी विचारवान् लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टिपरिवर्तन के लिए जैन-परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा।

अवतारवाद

जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर विचार करते समय एक बात अनायास ही ध्यान में आ जाती है। वह है उसके अवतारवाद की मान्यता।

आत्मा की चरम और विगृह स्थिति क्या है, यह दर्शनशास्त्र के चिन्तन का एक प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्धदर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवहट्ट हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भाँति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिकदर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्त-करण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा जान और सुख से सर्वथा वंचित हो जाता है। जान और सुख ही आत्मा के असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में ?

ससार में जितने अनादिमुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक अद्वितीय है। जीव जाति से वह पृथक् है। ससार में अधर्म की वृत्ति

श्रीर धर्म का ह्याम होने पर उसका नकार में अग्रगण्य होता है। उस समय वह परमात्मा में प्रात्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन धर्म अवतारवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म प्रत्येक प्रात्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है। श्रीर परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुन भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श संभव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन श्रीर पयप्रदर्शन जैनधर्म में मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन धर्म का यह प्रत्येक तर को नारायण, श्रीर भक्त को भगवान्, बनने का अधिकार देता ही उसकी मौलिक मान्यता है।

गुणपूजा

जैनधर्म में देव गुणपूजा का पक्षपाती रूढ़ है। जाति, कुल, वंश शयवा बाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति को महत्ता अर्गीकार नहीं करता। भारतवर्ष में प्राचीन काल में एक ऐसा वर्ग चना आता है जो वर्णव्यवस्था के नाम पर अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए, तथा स्थापित की हुई सत्ता को अधुष्ण बनाये रखने के लिए एक अखण्ड मानव जाति को अनेक खंडों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर, समाज की मुख्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को अधिक-से-अधिक अवकाश हो परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

“एक व्यक्ति दुःखी, अज्ञान और प्रकृति में तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुखील जानी और मनोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और, तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है। प्रत्युत यह गद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस व्यवस्था को अर्गीकार करने से दुराचार, सदाचार में ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान, ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण तमोगुण के सामने आदर्शगम्य बन जाता है। यही ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकी जनो को मह्य नहीं हो सकती।” (निरग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ २८६)

अतएव जैन धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण, कोई व्यक्ति आदर-

णीय होना चाहिए और अवगुणों के कारण अनादरणीय एवं अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पीछे जैनागमों के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

मस्तक मुड़ा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का जाप करने मात्र में कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई मुनि नहीं होता और जुग-चीर के परिधानमात्र से कोई तपस्वी का पद नहीं पा सकता।

(उत्तराध्ययन अ० २५ सूत्रकृताग १ श्रु०, अ० १३, गा० ६, १०, ११)।

समभाव के कारण श्रमण, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपामना करने के कारण मुनि, और तपश्चर्या में निरत रहने वाला तापस कहा जा सकता है।

कर्म (आजीविका) से ब्राह्मण होना है, कर्म में क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है, और कर्म में शूद्र होता है।

मनुष्य-मनुष्य में जानि के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता मगर तपस्या (मदाचार) के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है।

(उत्तराध्ययन)

उन उद्घरणों से स्पष्ट होगा कि जैन धर्म ने जन्मगत वर्णव्यवस्था एवं जाति-पाति की क्षुद्र भावनाओं को प्रश्रय न देकर गुणों को ही, मत्त्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन मध ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एवं जाति का विचार न करते हुए समान-भाव में स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच में भी कोई अन्वय दीवार स्वीकार नहीं करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है।

अपरिग्रहवाद

मसार का कोई भी धर्म परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नहीं मानता है। किन्तु सब धर्म एक स्वर में इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक बाइबिल का यह उल्लेख प्रायः सभी जानते हैं कि —“सूई की नोक में से ऊँट कदाचित् निकल जाय, परन्तु धनवान् स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता।” परिग्रह की यह कड़ी-में-कड़ी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापों का मूल और आत्मिक पतन का कारण कहते हैं। किन्तु जैन धर्म में अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत मुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन संघ मुख्यतया दो भागों में विभक्त है—त्यागी और गृहस्थ । त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है । जैन त्यागी सयम-साधना के लिए अनिवार्य कतिपय उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार में नहीं रखता । यहाँ तक कि अगले दिन के लिए भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता । उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है ।

गृहस्थवर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नहीं चला सकता और इन कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रहत्याग का विधान नहीं किया गया है, उसे सर्वथा अनियन्त्रित भी नहीं छोड़ा गया है । गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिए । परिग्रह-परिमाण श्रावक के पाँच मूल व्रतों में अन्यतम है । इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पड़ते हैं, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदंड-त्याग के नाम से गृहस्थधर्म के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है । परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह से व्यवहार में आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और माथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना संबंध विच्छेद कर ले । इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतों की बड़ी आवश्यकता है ।

अर्थतृष्णा की आग में मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाय, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे, और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अधिकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन में आना ही चाहिए । यदि अपरिग्रह भाव जीवन में आ जाय, और सामूहिक रूप में आ जाय तो अर्थवैषम्यजनित सामाजिक समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं । उन्हें हल करने के लिए समाजवाद या साम्यवाद या अन्य किसी नवीन वाद की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओं का सुन्दर समाधान है, अतएव समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है । इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रगस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं ।



बिबत्ती अबिणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ॥

—द०, ९, २, २१ ।

नच्चा नमई मेहावी, लोए कित्ती से जायइ ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगइ जहा ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४५ ।

हे साधक ! सभ्यता का मूल विनय है, अविनय नहीं । अतः अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है ।

हे साधक ! विनय के स्वरूप को जानने वाला सदा नम्र रहता है, और वह इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है । जिस प्रकार पृथ्वी समस्त वनस्पति और प्राणियों के लिए आधार रूप है, उसी प्रकार विनीत पुरुष भी समस्त गुणों का आधार रूप होता है ।

जैन-शिष्टाचार



जैन-शिष्टाचार

जैन धर्म भारत का एक प्राचीन धर्म है, जैन धर्म के २४ तीर्थंकर इसी भारत-भूमि में उत्पन्न हुए हैं। जैन-समाज भारतीय समाज के साथ सदा अभिन्न रहा है, आर्यत्व के नाते जैन और जैन तीर्थंकर आर्यवंश में ही पैदा हुए हैं। जैन धर्म प्रारम्भ से ही कोई जातिगत धर्म नहीं बना, वह सदा से एक चिन्तनात्मक मुक्ति मार्ग के रूप में ही स्थित रहा है। सासारिक, राजनीतिक तथा नासनिक अहभावना अथवा अधिकार-एपणा का उसने कभी पापण नहीं किया। भारतीय सभ्यता और आर्यसंस्कृति को जैनो की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। पर वह आर्यत्व के अग्र-भूत होने के नाते पराई नहीं, और न ही आक्रामक रूप से बलात् थोपी गई है, अपितु जैन-धर्म के नाते निर्गन्ध पथ का अनुयायी है, तथा जाति, वंश, सभ्यता संस्कृति और रक्त के सम्बन्ध से आर्य है। जैन और जैनेन्द्रो में परम्परा से विवाह सम्बन्ध होते आये हैं, क्योंकि जैन धर्म सामाजिक सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करता, अतः जैन शिष्टाचार और सभ्यता में व भारतीय सभ्यता में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। फिर भी जैन धर्म के विचारों, सिद्धान्तों का जो अनुयायियों पर प्रभाव पड़ा है, उससे कतिपय विशेषताओं को जन्म मिला है। इसका कारण है जैन धर्म की विनय-शीलता। जैन धर्म में विनय और समता पर अत्यधिक बल दिया है, प्रायश्चित्त, विनय, तथा वैद्यावृत्य (सेवाधर्म) को तप का अन्तर-स्वरूप बताया है। प्रायश्चित्त

से अहंभाव का नाश होता है, और विनय में नम्रता तथा विवेक को बल मिलता है !
जैन शिष्टाचार का अर्थ है विनय ।^१

ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र के प्रति श्रद्धा रखना और इन गुणों के धारक के प्रति आदर रखना जैनागम में बहुत बड़ा तप बताया है ।^२

मन, वचन, तथा काया को अप्रगस्त, पापकारी तथा घृणाकारक कार्य से हटाकर प्रगस्त, पुण्य-कारक तथा उपयोगपूर्वक उठने-बैठने की सम्यता की ओर उन्मुख होना महान् तप बताया गया है ।^३

जैनागम में लोकव्यवहार को ठीक ढंग से साधने के लिए भी लोकापचार विनय* का उल्लेख किया है ।

अध्यापक-गुरु की आज्ञापालन, आदर के साथ गुरु से व्यवहार करना, ज्ञानदान निमित्त नम्रतापूर्वक दान देना, दुःखी जीवों के प्रति कोमल भाव रखना, देशकाल की विज्ञता और सब से प्रेममय आत्मीयपन के अनुकूल रूप से स्नेहभरा व्यवहार करना भी जैनधर्म के अनुसार धर्म की प्रधानतम सेवा है ।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, अरिहंत, सिद्ध, देव, धर्म, तथा गुरु के प्रति अगातना-अनादरभाव नहीं रखना ही जैन साधु और श्रावकों का परम कर्तव्य है ।

जैनशास्त्रों में अगातना का बहुत विस्तृत वर्णन है, गुरु की अशासना ३२ प्रकार की बताई जाती है । गुरु के आगे खड़ा होना, गुरु के आसन पर बैठ जाना, गुरु के आगे चलना, तुकार का प्रयोग करना, आदि अनादर भावों का उल्लेख किया गया है ।

इसी प्रकार विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति भी जैनो के शिष्टाचार का ढग नियत है जैसे कि —

१. देव और गुरु के प्रति :—जैन श्रमणोपासक जब तीर्थकर भगवान् को उपदेश सभा में अथवा साधु के निवास स्थान पर जाता है, तो उसे पाँच बातें करनी चाहिएँ, जो जैन परिभाषा में पाँच अभिगम के नाम से प्रसिद्ध है । वे ये हैं—

१. भगवती सूत्र, श० २५ ।

२. " " "

३. " " "

४. भगवती सूत्र श० २५ ।

- १ फूलमाला सञ्चित्त आदि वस्तुओं को हटा देना आवश्यक है।
- २ अञ्चित्त वस्तुओं का त्याग आवश्यक नहीं।
- ३ छत्र-चवर आदि ऐश्वर्य के चिह्न तथा जूता, छतरी आदि पदार्थ न ले जाना।
- ४ तीर्थंकर या साधु पर दृष्टि पडते ही हाथ जोड़ना।
- ५ मन की चञ्चलता त्याग कर एकाग्र होना। (भगवती सूत्र)

२ वन्दनापाठ—तीर्थंकर या साधु के समक्ष पहुँच कर निम्नलिखित पाठ पढ कर उन्हें वन्दना की जाती है—

“तिक्खुत्तो आयाहिण, पयाहिण करेमि, वदामि नमसामि, सबकारेमि, समाणेमि, कल्लाण मगल देवय चेइय पज्जुवासामि, मत्थएण वदामि।”

—आवश्यक सूत्र, सामायिक पाठ।

अर्थात्—भगवन् ! मैं तीन वार दक्षिण से आरंभ करके प्रदक्षिणा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सन्मान करता हूँ। आप कल्याण और मंगल के रूप हैं। देवता स्वरूप हैं, चैत्य-ज्ञान स्वरूप हैं। मैं आपकी पुन-पुन. उपामना करता हूँ। मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

३ भ्रमणों का पारस्परिक शिष्टाचार—जैन मध में वन्दनीयता का आधार पर्यायज्येष्ठता है। अर्थात् प्रत्येक मुनि अपने से पूर्व दीक्षित मुनि को नमस्कार करता है। इसमें उम्र आदि किसी अन्य बात का विचार नहीं किया जाता। पुत्र यदि पहले दीक्षित हो चुका है और पिता पश्चात् दीक्षित हुआ है तो पिता अपने पुत्र को नमस्कार करेगा। सूत्रकृतांग अ० २, उ० २ सूत्र में बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी यदि बाद में मुनि दीक्षा ग्रहण करे तो उसका कर्त्तव्य है कि वह पूर्वदीक्षित अपने दास के दास को भी लज्जा और सकोच न करता हुआ वन्दना करे।

मुनि बन जाने पर मनुष्य का गृहस्थ जीवन समाप्त हो जाता है और एक नवीन ही जीवन का सूत्रपात होता है।

४ श्रावकों का पारस्परिक शिष्टाचार—शास्त्रीय उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में श्राविकाएँ और श्रावक भी अपने से बड़े श्रावक को वन्दना किया करते थे। —भगवतीसूत्र, १२शतक, गज-भोक्खली सबाद।

५ पति-पत्नी सम्बन्धी—उम्पति को पृथक् धर्या पर ही नहीं, प्रतिपु पृथक्-पृथक् कठों में गयन करना चाहिए। पत्नी जब पति के समीप आती है तो पति आदरपूर्ण मधुर शब्दों में उसका स्वागत करता है। बैठने को भद्रागम प्रदान करता है। क्योंकि जैनागमों में पत्नी पति की “धम्मगहाया”, अर्थात् धर्मगहायिका मानी गई है।—उपासक दशाग।

६ स्वामी-सेवक संबंधी—जैन शास्त्रों में सेवक का “कौटुम्बिक्यपुग्गि” अर्थात् कौटुम्बिक पुरुष परिवार का ही सदस्य के रूप में उल्लेख किया गया है। सम्राट भी अपने सेवक को “देवाणुप्पिया” कह कर सम्मान करने हैं। देवाणु-प्पिया का अर्थ है—“देवों के प्यारे।” कितना श्रद्धालु, कितना माधुर्य है और कितना स्नेह भरा है, इन शब्दों में।

“देवाणुप्पिया” शब्द सर्वोच्च का सामान्य शब्द है। स्वामी सेवक को, सेवक स्वामी को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और प्रत्येक प्रत्येक को प्रायः इसी शब्द से संबोधित करता है।

जैन पर्व

पर्व, धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम में जिस विद्यमान, धारणा तथा उत्साह की आवश्यकता पड़ती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व और उत्सव दोनों ही मानव की मूलभूत भूक मस्कार निर्माण, सम्यक्ता शिक्षण, और संस्कृति अभिव्यजन का कार्य पूरा करते हैं, किसी भी धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठ-भूमि को समझने के लिए पर्वों और उत्सवों को जान लेना अत्यावश्यक है। प्रत्येक धर्म के शास्त्र सिद्धान्त, और प्रतीक की तरह अपने मौलिक रूप में पर्व भी होते हैं। दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक विभिन्नता ही पर्वों की विभिन्नता का कारण है। जैनधर्म के भी कुछ अपने पर्व हैं। एक जैन भी वर्ष के किसी-न-किसी दिन को पर्व का रूप देकर अपने धार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। पर्वों का मीठा सम्बन्ध समाज-अनुयायी वर्ग से है, किन्तु पर्वों का मूल रूप धर्म के आन्तर विचारों से उत्प्रेरित होता है। जैन पर्व जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं जैन पर्व मानव से खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उपभोग अथवा हर्ष व विषाद की माँग नहीं करते, अपितु वे तो मनुष्य को तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, मत्स्य प्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विष्व मैत्री की भावना को प्रोत्साहित करते हैं। जैन पर्वों को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे कि,

मवत्सरी-पर्यूपण पर्व, द्यवलक्षणीपर्व, आयम्बिलअष्टाहिका, श्रुतपचमी, आदि तो धार्मिक पर्व हैं। महावीर जयती, वीर शासन जयन्ती, दीपावली, सलूनो (रक्षा-वधन) आदि मामाजिक पर्व हैं।

संवत्सरी—द्वेताम्वर सम्प्रदाय में मवत्सरी पर्यूपणपर्व को पर्वाधिराज कहा जाता है। जैन शास्त्रों में पर्यूपण के दिनों में से आठवें दिन मवत्सरी को धर्म का सर्वोच्च पवित्र दिन माना गया है। श्रमण सुधर्मा कहते हैं कि हे जम्बू !^१ इन पर्व को श्रमण भगवान् महावीर ने आषाढ पूर्णिमा से १ मास २० दिन के बाद मनाया था। चातुर्मास में एक मास और २०वें दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ५ को मवत्सरी पर्व आता है। आत्म शुद्धि के इस महान पर्व को जैसे भगवान् मनाते हैं उन्हीं प्रकार गौतम स्वामी, उन्हीं प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा श्रीसध मनाता है। मवत्सरी की रात का किमी भी प्रकार से उल्लघन नहीं करना चाहिए।

समवायाग^२ सूत्र में मवत्सरी का समय निश्चित करते हुए यह भी बताया है कि चातुर्मास के ५० दिन बाद और ७० दिन शेष रहते मवत्सरी पर्व की आराधना करनी चाहिए।

मवत्सरी के आठदिवसों को पर्यूपण कहते हैं। मवत्सरी और पर्यूपण दोनों में केवल इतना ही अन्तर है, कि मवत्सरी आध्यात्मिक साधना-क्रम में वर्ष का अन्तिम और सर्वप्रथम दिन का बोधक है, और पर्यूपण शब्द तप और वैराग्य साधना का उद्बोधक है। अतः मवत्सरी का अर्थ है, वर्ष का आरम्भ और पर्यूपण का अर्थ है कषाय की शान्ति। आत्मनिवाम तथा वैराग्यवृत्ति।

पर्यूपण के अर्थ को प्रकट करने वाले आगमों में कितने ही शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे कि पज्जुमणा, पज्जोसवणा, पज्जुसणा, आदि। पर्यूपण का शाब्दिक अर्थ है, पूर्ण रूप से निवास करना, आत्मरमणकरना और पज्जोसवणा का अर्थ है, कषायों की सर्वथा उपशान्ति। अनादिकालीन आत्मा में स्थित विकारों का सर्वथा नाश करना, तथा ऊर्ध्वमुखी वृत्ति द्वारा ऊर्ध्वगमन करना ही पज्जोसवणा का वास्तविक अर्थ है। जैन साधु और साध्वी, इन आठ दिनों में

१. कल्पसूत्र, 'तेण कालेण-समणे भगवं महावीरे वासाणं सवो सइराए मासे विइक्कन्ते वासावासं पज्जोसवेई।'

२. समवायाग सूत्र, "समणे भगवं महावीरे वासाणं सवोसई राइमासे वइक्कन्ते सत्तरिएहि राइदिएहि सेसेहि वासावासं पज्जोसवेई।"

वर्ष भर में लगे अतिचारो का आलोकन, केवलुचन, पर्युषणाकल्प वानन, धर्मनृद्धि, भगवदागधन अष्टम तप, तथा साम्बत्सरीक प्रतिक्रमण रूप छ उपक्रमो को अवश्य करते हैं। श्रावक और श्राविका इन दिनों में व्यावहारिक तथा जागतिक सम्बन्धों से अलग हट कर निरन्तर धर्म साधना तथा तपस्या में लीन रहते हैं, और संवत्सरी के दिन तो जैन समाज का कोई भी बच्चा तक यथा शक्य, तप, स्वाध्याय और कथा-श्रवण के बिना नहीं रहते। आठ दिन तक कितने ही जैन, भाद्र कृष्णा १२ में भाद्र शुक्ला पंचमी तक निर्जल और निराहार रहकर एक ही स्थान में ध्यान और स्वाध्याय में ही पर्युषण पर्व मनाते हैं। सम्बत्सरी के सायं प्रतिक्रमण के अवसर पर प्रत्येक जैन को चौरासी लाख जीवायोनि से मन, वचन, काया पूर्वक क्षमायाचना करनी पड़ती है। इस दिन भी जो क्षमायाचना नहीं मांगता है, और न ही क्षमा प्रदान करता है, वह जैन कहलाने का अधिकारी भी नहीं है। प्रेम मिलन, ब्रिध्व-सैत्री तथा विश्ववात्सल्य ही इस पर्व का मुख्य आधार है।

दशलक्षणपर्व—दिगम्बर सम्प्रदाय में पर्युषण पर्व के स्थान पर दश लक्षण पर्व मनाया जाता है। भाद्र शुक्ला पंचमी में भाद्र शु० अनन्तचतुर्दशी तक इस पर्व की आराधना की जाती है। प्रतिदिन धर्म के दशलक्षणों का क्रमश विवेचन होता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य रूप दशधर्मों का व्याख्यान, अभ्यास तथा तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायो का क्रमश स्वाध्याय किया जाता है। धर्म के विशाल वाङ्मय में धर्मके इन दशरूपों के लिए किसी भी धर्म में कोई भेद नहीं है। मनु जी के धर्म के दश लक्षण, पद्मपुराण के यति धर्म और जैनधर्म के दश यतिधर्म परस्पर में एक ही हैं। इन दिनों में जैन भाई यथाशक्य व्रत पीपव उपवास आदि तप क्रिया का भी अनुष्ठान करते हैं। इन पर्वों के दिनों में जैन समाज में एक उत्साह छाया रहता है, और जैन मन्दिर धर्मस्थान तथा स्वाध्याय भवन जनता से खचाखच भरे रहते हैं। अनन्तचतुर्दशी के दिन किसी किसी स्थान पर विराट् जलूस भी निकाला जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पर्युषण पर्व और दिगम्बर सम्प्रदाय का दशलक्षण पर्व परिपूर्ण हिंसा के विरुद्ध जैन जाति का सामूहिक अभियान है। अत प्राचीनकाल से जैन इन दिनों में अन्य प्रकार की हिंसा कसाई खाने आदि भी बन्द करवा देते हैं। सम्राट् अकबर ने तो आचार्य हीरविजय सूरीस्वर के उपदेश से प्रभावित होकर अपने साम्राज्य में इन दिनों में हिंसा बन्द करवा दी थी। इसी प्रकार आज भी भारत के कितने ही प्रान्तों में सम्बत्सरी को हिंसा बन्द रहती है।

अष्टान्हिका पर्व:—तथा **आयंबिल**—**ओली पर्व**:—दिगम्बर सम्प्रदाय—

में कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनों में सिद्ध भगवान् की आराधना तथा स्वाध्याय रूप धार्मिक क्रियाएँ उत्साह के साथ की जाती हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चैत्र और असौज में सप्तमी से पूनम तक ६ दिन आयम्बिल तप की साधना की जाती है। हजारों जैन भाई और बहिन आयम्बिल तप करते हैं। आयम्बिल तप का अर्थ है अम्ल रस से रहित भोजन, जिसमें रस, गव, स्वाद, घृत, दुग्ध, छाछ आदि किसी भी प्रकार से मिश्रित नहीं किया जाता है। जैन वर्ग की आम्वाद भाधना का यह बहुत विचित्र और उपयोगी उपक्रम है।

भूत पंचमी—दिगम्बर सम्प्रदाय में इस पर्व को आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के द्वारा निर्मित “पट् खण्डागम” नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की परिसमाप्ति के रूप में और स्वाध्याय प्रेरणा में इसे मनाया जाता है। ज्येष्ठ शु० पंचमी को उन्होंने यह ग्रन्थ मघ को समर्पित किया था, साधिक सम्मान श्रुत ज्ञान के प्रति बड़े, यही इसका उद्देश्य है।^१

श्वेताम्बरों में श्रुत पञ्चमी कार्तिक शुक्ला पंचमी को मनाई जाती है। श्रुताराधना और श्रुत ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा तथा विनय प्रकट करना ही इसका उद्देश्य है।

महावीर जयन्ती—चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन श्रमण भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती जैन समाज में धूमधाम के साथ मनाई जाती है। इस वर्ष तो महावीर जयन्ती, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि में भी मनाई जाने लगी है। इस दिन विशाल समारोह के साथ चौबीसवे तीर्थकर महावीर के जीवन, सिद्धान्त तथा दर्शन तथा धर्म के विषय में मनन किया जाता है। उत्सव, जलूस, भाषण आदि का रोचक रूप से कार्यक्रम रहता है। आजकल महावीर जयन्ती राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करती जा रही है।

इसी प्रकार अन्य २३ तीर्थकरों की सामान्यतया जयन्तियाँ मनाई जाती हैं।

दीपावली—श्रावण पूर्णिमा, दशहरा, दीपावली तथा होली भारत के राष्ट्रीय पर्व हैं। चारों वर्णों के अनुसार प्रत्येक पर्व का एक-एक व्यावहारिक और धार्मिक सन्देश है। क्रमशः जैसे कि ज्ञान, क्षात्रत्व, लक्ष्मी और मनोरजन तथा

१. अष्टोत्तसित पक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्यं संघ संभवतः ।

तत्पुस्तकोपकरणं व्यंजात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३

(इन्द्रान्दि श्रुतावतार)

गुद्धि और धार्मिक रूप में तपस्या, ब्रह्मचर्य, आत्मज्ञान (नक्षत्री) तथा आत्मा गुद्धि दीपावली भी भारत का प्रसिद्ध तथा लोकव्यापी त्योहार है। तो भी दीपावली का ऐतिहासिक उद्गम रूप विवरण किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता है।

किन्तु श्वेताम्बर^१ आगमों और दिगम्बर पुराणों^२ में इस सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। आशय दोनों का एक है। श्रमण महावीर के निर्वाण के समय नव निच्छवि और नव मल्लिराजाओं ने पौषव्रत कर रखा था। कार्तिक अमावस्या का दिन था। रात्रि के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। उस समय राजाओं ने आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य महावीर के अभाव में रत्नों के प्रकाश से उस स्थान को देदीप्यमान किया था। परम्परागत उन्नी प्रकार जनता दीप जलाकर उस परम ज्ञान की उपासना कर प्रेरणा प्राप्त करती है, इसी का नाम दीपावली है। यही कारण है कि दीपावली पर्व जैनो के लिए महत्त्वपूर्ण पर्व है।

सलूनो रक्षा बन्धन—ब्राह्मण लोगों के हाथों में राखियों बाँधते समय, इस पर्व का महत्त्व तथा इतिहास प्रतिपादक श्लोक पढा करते हैं, जिसका आशय है कि “जिम राखी से दानवों का इन्द्र महाबली बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हें बाँधना हूँ, अडिग और अडोल होकर मेरी रक्षा करो।”^३

बलिराजा की कथा वामानवतार के प्रसंग में उद्धृत अवश्य हो गई है, किन्तु इसमें रक्षा बंधन के महत्त्व का अनुभव नहीं मिलता है। जैन साहित्य में इसी पर्व के सम्बन्ध में कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैन साधुओं से घृणा और द्वेष रखने वाले बली को महाराज पद्म से उपकृत रूप से वरदान पूर्ति के निमित्त मातृ दिन का राज्य मिल गया था, अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात सौ शिष्यों सहित उधर आ निकले, बलि को बदला लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने मुनि सघ को एक बाड़े में घेर कर पुरुषमेव यज्ञ में बलि करने की ठानी।

एसे सकट काल में एक वैक्रिय लब्धिवारी मुनि विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई कि आप ही इस मुनि सघ पर आये सकट को दूर कीजिए। तपस्या में लीन विष्णुकुमार मुनि, मुनि वर्ग की रक्षा निमित्त नगर में आये और अपने भाई पद्मराज

१. कल्पसूत्र।

२. हरिवंश।

३. येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबली।

तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा अल ॥

को समझाया कि भाई, इस कुरुवश में तो माधुओ का आदर होना आया है, किन्तु इस प्रकार का पापकारी कुकृत्य नहीं हुआ।

पद्मराजा को दुःख तो बहुत था, किन्तु वह वचनबद्ध था, अतः उसने अपनी चिदशाना बतलाई। विष्णुकुमार मुनि बलि के पाम पहुँचे और उससे मुनि मंत्र के लिए स्थान माँगा। बलि ने कहा कि अच्छा मैं ढाई कदम जगह देता हूँ, उसमें रह लो। इस पर विष्णुकुमार जी को रोप हुआ और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्होंने वहाँ प्रगट किया, और एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, और तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देख कर पृथ्वीवामी जन अत्यन्त क्षुब्ध हो गए, बलि क्षमा माँगने लगा, राज्य उसने वापस कर दिया, और ममूचा संकट टल गया।

मुनिजनों पर संकट आया देख कर लोगो ने अन्न-जल का त्याग कर दिया था। संकट टलने पर मुनि जब घर नहीं आये तो लोग भोजन कैसे करे। मात मौ मुनि जितने घर आ सकते थे, उतने घर गये और बाकी ने श्रमणों का स्मरण कर, प्रतीक बना कर भोजन किया, अतः उमी दिन से रक्षावधन के दिन दोनो ओर मनुष्य का चित्र बना कर राखी बाँधने की प्रथा चल पड़ी। इस प्रथा को आज भी उत्तर-भारत में “मौन” कहते हैं मौन शब्द “श्रमण” का ही अपभ्रंश है।^१



